सम्मति/समीक्षा के लिए

प्रधान सम्पादक

जैनविद्या

जैनविद्या संस्थान श्रीमहावीरजी द्वारा प्रकाशित अर्द्धवार्षिक

शोध पत्रिका

अप्रेल, 1984

प्रकाशक

दि० जैन अतिशय क्षेत्र, श्रीमहावीरजी

मुद्रक :

जयपुर प्रिण्टर्स

जयपुर 302001

वार्षिक मूल्य : तीस रुपये मात्र

जैनविद्या

जैनविद्या संस्थान श्रीमहावीरजी द्वारा प्रकाशित अर्द्ध वार्षिक

शोध पत्रिका

अप्रेल, 1984

प्रकाशक

दि० जैन अतिशय क्षेत्र, श्रीमहावीरजी

मुद्रक :

जयपुर प्रिन्टर्स

जयपुर 302001

वार्षिक मूल्य : तीन रुपये मात्र

साहित्य समीक्षा

भद्रबाहु – चाणक्य – चन्द्रगुप्त – कथानक एवं राजा कल्कि वर्णन : रचनाकार – महाकवि रइधू। सम्पादन एवं अनुवाद – डॉ० राजाराम जैन, एम.ए., पीएच.डी., शास्त्राचार्य आरा। प्रकाशन – श्री गणेश वर्णी दि० जैन संस्थान, नरिया, वाराणसी – 5। मुद्रक – सन्मति मुद्रणालय, दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी – 5। पृष्ठ संख्या – 112। सजिल्द, 1982 संस्करण। साइज – 18″ × 22″/8। मूल्य – 16.00 रु०।

प्रस्तुत प्रकाशन 15वीं-16वीं शती के अपभ्रंश भाषा के बहुचर्चित महाकवि रइधू की अपभ्रंश रचना का हिन्दी अनुवाद है। आरम्भ मे एलाचार्य मुनिश्री विद्यानन्दजी का आद्य मिताक्षर तथा डॉ० उपेन्द्र ठाकुर, प्रोफेसर व विभागाध्यक्ष, प्राचीन भारतीय एवं एशियाई अध्ययन, मगध वि. वि., बौद्ध गया का आंग्ल भाषा में आद्यकथन (फोरवर्ड), विषय-सूची एवं प्रकाशकीय के अनन्तर सम्पादक/अनुवादक की जानकारीपूर्ण विस्तृत प्रस्तावना है। पुस्तक के अन्त में हरिषेणाचार्य कृत भद्रबाहुकथानकम्, चाणक्यमुनिकथानकम् (दोनों संस्कृत पद्य मे), रामचन्द्र मुमुक्षु कृत उपवासफलवर्णनम् (संस्कृत गद्य) तथा उत्तराध्ययन से चाणक्यकहाणगं (प्राकृत), टिप्पण तथा सार्थ अपभ्रंश शब्दकोष परिशिष्ट रूप में दिये हुए हैं। इससे पुस्तक की उपयोगिता में वृद्धि हुई है तथा भद्रबाहु, चाणक्य आदि के कथानकों के तुलनात्मक अध्ययन में सुविधा हो सकती है। यद्यपि इससे किसी ऐतिहासिक निष्कर्ष पर पहुँचना संभव नहीं है तथापि पुस्तक में वर्णित पात्रों के ऐतिह्य-विवरणों के अध्येताओं के लिए इसकी उपयोगिता को नकारा नहीं जा सकता। सम्पादक ने जिस रूप मे पुस्तक को प्रस्तुत किया है वह प्रशंसनीय तो है ही, इस क्षेत्र में कार्यरत शोधार्थियों के लिए मार्गदर्शिका का कार्य भी कर सकती है। पुस्तक पुस्तकालयों, शिक्षणालयों, शोध संस्थाओं, मंदिरों आदि में संग्रहणीय है।

विषय-सूची

प्रास्ताविक

महावीर काल में सामान्यजन धर्म और दर्शन के स्वरूप से अलग-थलग हो चुका था। पौरोहित्य वर्ग/पण्डित वर्ग ने उस पर अपना एकाधिकार जमा रखा था। वह जिस भाषा का प्रयोग करता था वह जनसाधारण की भाषा न होकर एक छोटे से समूह मात्र की भाषा थी। जो कुछ वह समूह बोलता था, यद्यपि उसे जनसाधारण समझ नहीं पाता था किन्तु उसे वह सब मौन रह कर सुनना पड़ता था। भगवान् महावीर और महात्मा बुद्ध ने इस स्थिति का आकलन किया, जनता की भावनाओं और मानसिक पीड़ा का अनुभव किया। दोनों ही यद्यपि वैभवसम्पन्न कुलों में जन्मे थे, राजसी ठाट-बाट में पले, बड़े हुए थे किन्तु उन्होंने कभी भी अपने को साधारण जनता से उच्च/पृथक् नहीं समझा। धर्म का रहस्य साधारण से साधारण जन भी हृदयंगम कर सके इस हेतु उन्होने प्राकृत/पाली भाषा को पकड़ा जो उस समय की सामान्य जनता की बोलचाल की भाषा थी। महावीर की भाषा का तो यह अतिशय/विशेषत्व ही बताया गया है कि सब लोग उसे सरलता से हृदयंगम कर लेते थे। उसमें 18 मुख्य और 500 गौण भाषाएं समाहित थीं।

जैनसंघ – साधु और गृहस्थ दोनों ने महावीर की इस नीति को चालू रखा। उन्होंने समय के साथ जनभाषा में हुए परिवर्तनों के अनुसार अपने विचारों के प्रकटीकरण के माध्यम में भी परिवर्तन किया। वे किसी विशेष भाषा से चिपके नहीं रहे। उन्होंने श्रोता के स्वर और भाषा के माध्यम से ही अपने उपदेशों/आदर्शों का प्रचार-प्रसार जारी रखा। यही कारण है कि विभिन्न कालों में प्रचलित जन-भाषाओं में लिखित जितना साहित्य आज प्राप्य है उनमें से अधिकांश का निर्माण जैनों द्वारा हुआ है और उसका अध्ययन/मनन किये बिना भाषा के विकासक्रम को नहीं समझा जा सकता।

अपभ्रंश का महत्त्व

भाषा की समता नदी के प्रवाह से की जा सकती है। वह प्रतिक्षण परिवर्तनशील है। परिवर्तन की यह गति साधारणतः इतनी मंद और धीमी होती है कि अनुभव में नहीं आती। भाषाशास्त्रियों के अनुसार अपभ्रंश भाषा मध्यकालीन प्राकृत की अन्तिम और वर्तमान भारतीय भाषाओं की आद्य अवस्थाओं के मध्य की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है। अपभ्रंश के अध्ययन के बिना प्राचीन और अर्वाचीन आर्यभाषाओं के विकासक्रम को समझ पाना ही संभव नहीं है। भाषा एक रूप का परित्याग कर ही दूसरे रूप को ग्रहण करती है। उसमें नदी के प्रवाह के समान धारावाहिकता आवश्यक रूप से बनी रहती है। भाषा की यह धारावाहिकता उसके विकास में बहुत महत्त्व रखती है। इसी प्रवाह की एक धारा अपभ्रंश है जो प्राकृत की अन्तिम अवस्था है।

यह ठीक है कि प्राकृत से ही अपभ्रंश के मूल कलेवर का निर्माण हुआ किन्तु उस पर संस्कृत भाषा और साहित्य का भी प्रभाव पड़े बिना नहीं रहा जो एक सीमा तक स्वाभाविक था। अपभ्रंश की प्रवृत्ति उकारान्त मानी या कही जाती है। भरतमुनि, अश्वघोष, भास, कालिदास, शूद्रक आदि संस्कृत नाटककारों के नाटकों में उसकी इस प्रवृत्ति के दर्शन किये जा सकते हैं।

प्रसिद्ध भाषाशास्त्री लक्ष्मीधर के अनुसार अपभ्रंश आभीर आदि बोलियों का निचय है। उसके इस कथन एवं अन्य साक्ष्यों से यह स्पष्ट प्रतिभासित होता है कि एक समय वह जनसाधारण की भाषा थी किन्तु साहित्यिक भाषा बनते ही उसने संस्कृत और प्राकृत की तरह अपना वह स्वरूप खो दिया और एक समय ऐसा आया कि इसके समझने वाले भी नहीं रहे। इसका साहित्य बस्तों और आलमारियों में बंद पड़ा रहा। शेष साहित्य लोगों की असावधानी से लुप्त और नष्ट हो गया।

अपभ्रंश और राजस्थानी

अपभ्रंश प्रायः सब ही आधुनिक भारतीय भाषाओं की जननी रही है। डॉ॰ टेस्सिटरी ने कहा है – "जिस भाषा को मैं 'प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी' नाम से पुकारता हूँ उसमे वे सभी तत्त्व हैं जो गुजराती के साथ-साथ मारवाड़ी के उद्भव के सूचक हैं और इस तरह वह भाषा इन दोनों की सम्मिलित माँ है। यह बहुत पहले ही स्वीकार किया जा चुका है कि गुजराती और मारवाड़ी एक ही उद्गम स्थल शौरसेनी अपभ्रंश से उत्पन्न हुई हैं।"

सुप्रसिद्ध भाषाविद् डॉ॰ भोलानाथ तिवाड़ी ने अपने ग्रंथ 'हिन्दीभाषा' में स्वीकार किया है कि नागर अपभ्रंश से राजस्थानी का विकास हुआ है। भाषा विषयक इतिहास के अध्ययन से पता चलता है कि मध्ययुग में मारवाड़ी और गुजराती में बहुत अधिक साम्य था जो समय के साथ-साथ उत्तरवर्ती काल में कम होता गया और भिन्नता बढ़ती गई।

निम्न तालिका में उदाहरणस्वरूप कुछ शब्द प्रस्तुत किये जा रहे हैं जिससे वर्तमान राजस्थानी (मारवाड़ी, मेवाड़ी, ढूंढारी) पर अपभ्रंश के प्रभाव को भली प्रकार समझने में सहायता मिल सकती है –

अपभ्रंश	राजस्थानी	अपभ्रंश	राजस्थानी
कइँ	काईं	होसइ	होसी
ओक्खल	ओखल, ऊखल	कुम्भार	कुम्हार
अज्जु	आज	गड्डो	गड्ढो
डोंगर	डूंगर	रुक्ख	रूख
हलद्दी	हलदी	भल्ला	भला
अइस	ऐसा	ठल्लो	ठाला

इसी प्रकार अपभ्रंश के जा, मिल, घाल, उतर, जुत, आव आदि क्रियाएं आज भी राजस्थानी में ज्यों की त्यों प्रयुक्त होती हैं।

अपभ्रंश एवं अन्य भारतीय भाषाएं

जिस प्रकार नागर अपभ्रंश से राजस्थानी और गुजराती का विकास हुआ उसी प्रकार पैशाची से लहंदा और पंजाबी, ब्राचड़ अपभ्रंश से सिंधी, महाराष्ट्री अपभ्रंश से मराठी, अर्द्धमागधी से पूर्वी हिन्दी और मागधी अपभ्रंश से बिहारी, बंगाली, उड़िया और आसामी भाषाएं विकसित हुईं। मध्ययुग में मारवाड़ी, गुजराती, ब्रज, कन्नौजी और बुन्देली मे बहुत कम भिन्नता थी, इसीप्रकार ब्राचड़, चूलिका और पैशाची, कोंकणी और महाराष्ट्री, हिन्दकी, सिंधी और कच्छी में प्रारम्भ में प्रायः बहुत कम अन्तर था किन्तु समय के साथ-साथ रहन-सहन, प्रान्तीयता, संस्कृति तथा राजनीतिक कारणों से ये भाषाएं एक दूसरी से दूर और भिन्न होती गईं।

राष्ट्रभाषा हिन्दी और अपभ्रंश

हिन्दी साहित्य के विकासक्रम का अध्ययन करने वाले विद्वानों ने उसका पांच युगों में विभाजन किया है। वे 10वीं शती से हिन्दी की कालगणना प्रारम्भ करते हैं किन्तु वास्तव में 10वीं से 12वीं शताब्दी तक का काल अपभ्रंश का ही काल है जो छठी शताब्दी से प्रारम्भ होता है। केवल परम्परा को सूत्रबद्ध करने के लिए इस काल को हिन्दी के आदिकाल के नाम से अभिहित किया गया है। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने अपनी 'हिन्दी काव्यधारा' मे हिन्दी कविता के इतिहास को पाच युगों में विभाजित किया है। उसमें महाकवि स्वयम्भू को पांचों युगों के एक दर्जन महाकवियों में सर्वोच्च स्थान प्रदान करते हुए आश्चर्य के साथ कहा है कि लोगों ने कैसे ऐसे महान् कवि को भुला देना चाहा। हमारे लिए यह गौरव की बात है कि स्वयम्भू जैन थे। राहुलजी के इस उल्लेख के पश्चात् विद्वानों का ध्यान अपभ्रंश भाषा, उसके साहित्य और साहित्यकारों के अध्ययन-मनन की ओर आकृष्ट हुआ।

12वीं शती के पश्चात् पुरानी हिन्दी के काल का प्रारम्भ माना जाता है। वास्तव में 14वीं शती तक अपभ्रंश और हिन्दी का संधि काल है। इस काल में एक ओर शौरसेनी अपभ्रंश में रचना होती रही और दूसरी ओर इसी के समानान्तर संस्कृत से तत्सम शब्दों को लेने की प्रवृत्ति ग्रहण कर जनभाषा ने जो नवीन स्वरूप प्राप्त किया वह प्रारंभ में भाषा और

आगे चलकर खड़ी बोली तथा हिन्दी कहलाई। मध्यकालीन हिन्दी का प्रारंभ सन्त काल से होता है जिसके स्वरूपनिर्माण का प्रमुख श्रेय नाथ सम्प्रदाय एवं सूफी सम्प्रदाय के साधुओं को दिया जाता है किन्तु इस युग का जैन काव्य इन तथा अन्य जैनेतर सम्प्रदायों से प्रभावित न होकर अपनी पूर्व परम्परा से ही अनुप्राणित रहा है। जैन अपभ्रंश साहित्य में वे सभी मूलबीज थे जो हिन्दी के सन्त काव्य में प्राप्त होते हैं। यह स्वीकार कर लिया गया है कि कबीर एवं जायसी का साहित्य जैन अपभ्रंश से प्रभावित है। उस समय नाथों के 12 सम्प्रदायों में नेमि सम्प्रदाय, पारस सम्प्रदाय एवं आई पन्थ प्रमुख थे। इनमें से आदि के दो सम्प्रदाय जैनो के 22वें तथा 23वें तीर्थंकर के नाम पर थे और इन तीर्थंकरों की आम्नाय से काफी मिलते-जुलते थे। आई पंथ के अनुयायियों का एक गुट पीर पारसनाथ की पूजा करता था। ये पीर पारसनाथ 23वें जैन तीर्थंकर ही हैं। ऐसा कहा जाता है कि नाथ सम्प्रदाय का नाम भी जैन तीर्थंकरों के नाम के अन्तिम शब्द 'नाथ' के आधार पर रखा गया है। इसप्रकार यह स्वीकार किया जा सकता है कि दोनों के धर्म और भाषा का मूल स्रोत एक ही हो।

डॉ० तगारे ने जिसे पश्चिमी अपभ्रंश कहा है डॉ० ग्रियसन ने उसे शौरसेनी नाम दिया है। हिन्दी, गुजराती और राजस्थानी की जननी यह शौरसेनी अपभ्रंश ही मानी जाती है। इस काल की जितनी रचनाएं आज तक उपलब्ध हुई है उनमे सबसे अधिक रचनाएं जैनधर्म से सम्बन्धित हैं। गणितीय भाषा में जैन रचनाओं एवं जैनेतर रचनाओं का अनुपात 80 : 20 से भी कुछ अधिक ही होगा, कम नहीं।

आलोच्य काल में अपभ्रंश ग्रंथों का पठन-पाठन सम्पूर्ण उत्तरी भारत विशेषत: राजस्थान, देहली, ग्वालियर, कारंजा, आगरा आदि स्थानो पर होता था इसलिए यहाँ के जैन ग्रंथागारों में अपभ्रंश भाषा की रचनाएं भी प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं। अकेले दि० जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी के जैनविद्या संस्थान के पाण्डुलिपि विभाग में ही 350 से भी अधिक पाण्डुलिपियाँ इस भाषा की हैं। इनमें महाकवि पुष्पदन्त (4थी-5वीं शता०) के महापुराण, जसहरचरिउ, णायकुमारचरिउ आदि, वीर (11वीं शता०) की जम्बूस्वामि चरिउ, स्वयम्भू (7वीं, 8वीं शता०) के पउमचरिउ, रिट्ठणेमिचरिउ एवं स्वयम्भूच्छन्द आदि, नयनन्दि (11वीं शता०) के सुदंसणचरिउ, सयल-विहि-विहाण कव्व, पद्मकीर्ति (15वीं शता०) का पासणाहचरिउ, धवल (11वी शता०) का हरिवंशपुराण वृहद् काव्य ग्रंथ हैं। 15वीं शता० के पं० रइधू अपभ्रंश भाषा के महान् ग्रंथकार थे जिनकी अब तक 25 से भी अधिक रचनाएं उपलब्ध हो चुकी हैं जो अधिकाशत: चरित, कथा एवं आध्यात्मिक काव्य कृतियाँ हैं। यह काल देश की वर्तमान विविध भाषाओं के विकास का आदिकाल माना जाता है अत: इस काल के अपभ्रंश के स्वरूप एवं विविध भाषाओं के विकास-क्रम में उसके सहयोग/सम्बन्ध/देय आदि के अध्ययन के लिए पं० रइधू की रचनाओं का अध्ययन आवश्यक है। बिना इसके इस विषय का अध्ययन पूर्ण नहीं हो सकता।

पहले अपभ्रंश भाषा की कालावधि 15वीं शती तक ही मानी जाती थी किन्तु अब भैया भगवतीदास की एक अपभ्रंश रचना के उपलब्ध हो जाने से यह अवधि 17वीं-18वीं शताब्दी तक बढ़ गई है।

भारत के विभिन्न स्थानों के जैन ग्रंथ भण्डारों में आज जो अपभ्रंश भाषा का साहित्य उपलब्ध है उसे सुरक्षित रखने का प्रमुख श्रेय दि० जैन समाज और उसके भट्टारकों, पण्डितों, ब्रह्मचारियों आदि को है जिन्होंने मुगलकाल के आक्रमणों, साम्प्रदायिक उत्पातों/विद्वेषों के समय इस भाषा के हस्तलिखित ग्रन्थों को सुरक्षित रखा। इसके फलस्वरूप ही आज अपभ्रंश के महत्त्व का आकलन संभव हो सका है।

जैन ग्रंथ भण्डारों में सैकड़ों अपभ्रंश भाषा के स्तवन, स्तोत्र, गीत आदि ऐसे हैं जिनके अध्ययन/मनन से समूचे भक्ति साहित्य पर उसका प्रभाव स्पष्टतया परिलक्षित होता है।

यह वास्तव में अत्यन्त खेद और आश्चर्य का विषय है कि अपभ्रंश साहित्य इतना विशाल और महत्त्वपूर्ण होते हुए भी भैया भगवतीदास के पश्चात् इसे सर्वथा ही भुला दिया गया। प्रसन्नता का विषय है कि अब विद्वानों/शोधार्थियों का ध्यान इस ओर गया है जिनमें डॉ० हीरालाल जैन, डॉ० रामसिंह तोमर, डॉ० हरिवंश कोछड़, डॉ० राजाराम, डॉ० देवेन्द्रकुमार इन्दौर, डॉ० देवेन्द्र कुमार नीमच, डॉ० वीरेन्द्र श्रीवास्तव, डॉ० शालिग्राम उपाध्याय, डॉ० सुकुमार सेन, डॉ० परममित्र शास्त्री, डॉ० अम्बादत्त पन्त, डॉ० राजनारायण पाण्डे, डॉ० रामगोपाल शर्मा आदि ने इस क्षेत्र में कार्य किया है और अपभ्रंश भाषा का विभिन्न दृष्टिकोणों से अध्ययन कर उसके विभिन्न पक्षों पर प्रकाश डाला है एवं डाल रहे हैं।

भारतीय ज्ञानपीठ, सिन्धी जैन सीरीज आदि संस्थाओं से कुछ प्रकाशन कार्य भी हुआ है किन्तु वह अपभ्रंश के विशाल साहित्य भण्डार और उसकी उपयोगिता को देखते हुए महत्त्वपूर्ण होते हुए भी अपर्याप्त है और इस क्षेत्र में अभी बहुत कुछ करना शेष है। इस ही को दृष्टि में रखते हुए दि० जैन अतिशय क्षेत्र, श्रीमहावीरजी द्वारा संचालित जैन-विद्या संस्थान ने भी इस महत्कार्य में अपना अंशदान करने का निश्चय किया है। संस्थान द्वारा अपभ्रंश भाषा के आद्य महाकवि स्वयम्भू की स्मृति में अपनी पत्रिका 'जैनविद्या' के प्रथम अङ्क 'स्वयम्भू विशेषांक' का प्रकाशन इस ओर श्रीगणेश मात्र है।

इस कार्य मे जिन-जिन लेखकों ने अपने लेख भेजकर एवं अपनी रुचि प्रकट कर तथा संस्थान के निदेशक, प्रधान सम्पादक, शोधकर्त्ताओं व अन्य कार्यकर्त्ताओं ने जो सहयोग दिया है उन सबके प्रति संस्थान समिति आभारी है। समिति अपने ही सदस्य डॉ० कमलचंद सोगानी, प्रोफेसर एवं अध्यक्ष दर्शनशास्त्र विभाग, श्री मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय उदयपुर का भी विशेष आभारी है जो पत्रिका के इस अङ्क को 'स्वयम्भू विशेषांक' के रूप में प्रकाशित करने के लिए प्रेरणा के स्रोत रहे हैं। समिति जयपुर प्रिण्टर्स के प्रोप्राइटर श्री सोहनलाल जैन की भी आभारी है जिन्होंने इस अङ्क को मुद्रित करके विशेष सहयोग दिया है।

— (डॉ०) गोपीचन्द पाटनी
संयोजक

आरम्भिक

जैनविद्या संस्थान, दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी की 'जैनविद्या' पत्रिका का प्रारंभिक अङ्क अपभ्रंश भाषा के आज तक ज्ञात कवियों में आद्य महाकवि स्वयंभू के नाम पर 'स्वयंभू विशेषांक' के रूप में प्रस्तुत करते हुए हमें अतीव प्रसन्नता है।

अपभ्रंश भाषा के इतिहास में महाकवि स्वयंभू का क्या स्थान है इसका आकलन पाठक इस अंक में प्रकाशित रचनाओं को पढ़कर स्वयं कर सकेंगे। हम तो संक्षेप में यहाँ इतना ही कह सकते हैं कि उनकी अबतक ज्ञात रचनाओं में से केवल 'पउमचरिउ' ही उन्हें अपने समय का अपभ्रंश भाषा का श्रेष्ठ महाकवि प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त है। उनकी इस रचना में वे सभी तत्व समाहित हैं जो काव्यमर्मज्ञों द्वारा एक महाकाव्य में आवश्यक बताये गए हैं।

'पउमचरिउ' पाँच काण्डों में विभाजित लगभग 12,000 श्लोकों का एक विस्तृत काव्य है। इसमें वाल्मीकि के रामकथानक को विमलसूरि के 'पउमचरिउ' और आचार्य रविषेण के पद्मपुराण' का आधार लेकर जैन मान्यता के अनुसार नये रूप में प्रस्तुत किया गया है। उनकी वर्णन शैली अत्यन्त मर्मस्पर्शी और भावुकतापूर्ण है। उसमें अवसरानुकूल रसों का परिपाक हुआ है। कवि की कला-प्रवणता, भाषाशक्ति एवं दृश्यों और घटनाओं के प्रस्तुतीकरण की विशिष्ट विधा ने उसके कई स्थलों को इतना सजीव एवं मनोरम बना दिया है कि उनके चित्र आँखों के सामने सजीव होकर नाचने लगते हैं। सीता का वन-गमन, लक्ष्मण के लिए भरत का, मंदोदरी एवं विभीषण आदि के विलाप संबंधी प्रसंग इतने करुणरसपूर्ण हैं कि पढ़कर एकबार तो पाषाण हृदय को भी रोना आ जाय, बरबस ही उसकी आँखें आर्द्र होकर टपकने लगें। उपमाबहुलता के साथ अन्य अलंकारों के यथावसर प्रयोग ने उनकी भाषा के सौन्दर्य में चार चाँद लगा दिये हैं, उसमें और भी निखार आ गया है। वृक्षों, पर्वतों, नदी नालो आदि प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन उनके प्रकृति-प्रेम और सूक्ष्म अवलोकन सम्बंधी शक्ति के परिचायक हैं। उनकी छन्दयोजना, अलंकार, व्याकरण संबंधी उपमाएँ आदि आदि उनके तत्सम्बंधी ज्ञान की गहराई के सूचक हैं।

कवि का लक्ष्य इस महाकाव्य की रचना द्वारा केवल पाठकों का मनोरंजन ही नहीं रहा है अपितु उच्चतम मानवीय मूल्यों एवं आदर्शों का प्रचार-प्रसार भी है।

कवि का दूसरा महाकाव्य 'रिट्ठणेमिचरिउ' अपर नाम 'हरिवंश पुराण' है। इसमें 112 संधियां हैं जिनमें से 92 स्वयं कवि द्वारा एवं शेष उनके पुत्र त्रिभुवन स्वयंभू द्वारा रचित हैं। इसमें महाभारत और हरिवंशपुराण पर आधृत कथानक को जैन मान्यता के अनुसार आवश्यक परिवर्तनों के साथ प्रस्तुत किया गया है। इसमें भी पउमचरिउ की भाँति ही मानव-जीवन एवं प्रकृति का चित्रण बड़ा ही अलंकार एवं रसपूर्ण, मनोहारी तथा हृदयस्पर्शी हुआ है। उसकी स्वाभाविक अभिव्यक्ति ने उसे पर्याप्त प्रभावपूर्ण बना दिया है।

यह गौरव की बात है कि अपभ्रंश साहित्य के निर्माण में अधिकांश योगदान जैनों का रहा है अतः यह उचित ही है कि 'जैनविद्या' का प्रथम अङ्क इस भाषा के आद्य महाकवि के नाम पर प्रस्तुत किया जाय।

पत्रिका के इस अंक में महाकवि स्वयंभू के व्यक्तित्व, उसके प्रदेश, तत्कालीन साहित्यिक परिस्थितियाँ, अपभ्रंश साहित्य में उनका महत्त्व, उनकी काव्यकला, उनसे पूर्व के साहित्यकार आदि विषयो पर प्रकाश डालने के साथ-साथ उनकी कृति 'पउमचरिउ' का प्रमुख रूप से विभिन्न दृष्टिकोणों द्वारा देश के जाने-माने विद्वानों ने अध्ययन/आकलन किया है। स्वयंभू की तीसरी कृति 'स्वयंभूच्छन्द' का भी एक लेख में अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

प्रस्तुत पत्रिका के माध्यम से विद्वानों की शोध-खोजपूर्ण मौलिक रचनाओं एवं अप्रकाशित ग्रंथों को प्रकाश मे लाया जा सकेगा। ऐसी ही अब तक अप्रकाशित एक 'चूनड़ी' शीर्षक अपभ्रंश भाषा की 800 वर्ष प्राचीन रचना सानुवाद इस अंक में प्रकाशित की जा रही है। जैनविद्या के अध्ययन एवं अनुसंधान के क्षेत्र में जहाँ-जहाँ भी जो-जो कार्य हो रहे हैं, प्रगति हो रही है उनकी जानकारी भी इस पत्रिका के द्वारा पाठकों के सम्मुख रखी जा सकेगी। इस प्रकार सीधे सम्पर्क के अतिरिक्त इन कार्यों के समायोजन और समन्वयन में सहायता तो मिलेगी ही, साथ ही इस निमित्त समाज से जो शक्ति मिलती है उसका भी समुचित उपयोग हो सकेगा।

पत्रिका में प्रकाशित रचनाओं के सम्बंध में सामान्यतः हमारी नीति उन्हें प्रायः उसी रूप में प्रकाशित करने की रही है/रहेगी जिस रूप में वे हमें प्राप्त हुए हैं/होंगे। स्वभावतः उनमें प्रकाशित तथ्यों, विचारों आदि के लिए लेखक स्वयं उत्तरदायी हैं/होंगे।

प्रकाशित रचनाओं के सम्बंध में प्रबुद्ध चिन्तकों की सम्मतियों/सुझावों का सर्वदा ही स्वागत है। उनके परिप्रेक्ष्य में जो सुधार आवश्यक एवं संभव होंगे उन्हें करने का यथाशक्ति प्रयत्न किया जायगा।

पत्रिका की रीति-नीति के अनुसार प्रेरक, उद्बोधक, अप्रकाशित मौलिक सामग्री का हम सदा स्वागत करेंगे। विद्वानों, चिन्तकों एवं मनीषियों से हमारा आग्रहपूर्वक अनुरोध है कि वे इन पुनीत उद्देश्यों की पूर्ति हेतु हमें न केवल अपनी रचनाएं प्रेषित कर

प्रोत्साहित करें अपितु जिन-जिन विषयों पर वे इस पत्रिका के माध्यम से जिस प्रकार की सामग्री का प्रकाशन उचित समझते हैं उनकी भी एक सूची एवं अपने विचार हमें लिख भेजते रहने की कृपा करें।

नवीन प्रकाशित महत्त्वपूर्ण तथा सुरुचिपूर्ण साहित्य की समीक्षा भी प्रकाशित की जायगी। समीक्षार्थ रचनाओं की तीन प्रतियाँ आना आवश्यक है।

इस अंक के प्रकाशन में हमें जिन विद्वानों, चिन्तकों, साथियों, सहयोगियों से जो योग मिला है, जयपुर प्रिण्टर्स ने जिस निष्ठा और तत्परता से कलापूर्ण मुद्रण किया है उसके लिए हम इन सबके आभारी हैं।

– (प्रो०) प्रवीणचन्द्र जैन
प्रधान सम्पादक

जैनविद्या
(शोध-पत्रिका)

सूचनाएं

1. पत्रिका सामान्यत: वर्ष में दो बार प्रकाशित होगी।
2. पत्रिका में शोध-खोज, अध्ययन-अनुसंधान सम्बन्धी मौलिक अप्रकाशित रचनाओं को ही स्थान मिलेगा।
3. रचनाएं जिस रूप मे प्राप्त होंगी उन्हें प्राय: उसी रूप में प्रकाशित किया जायगा। स्वभावत: तथ्यों की प्रामाणिकता आदि का उत्तरदायित्व रचनाकार का रहेगा।
4. रचनाएं कागज के एक ओर कम से कम 3 cm. का हाशिया छोड़कर सुवाच्य अक्षरों में लिखी अथवा टाइप की हुई होनी चाहिए।
5. अन्य अध्ययन अनुसंधान में रत संस्थानों की गतिविधियों का भी परिचय प्रकाशित किया जा सकेगा।
6. समीक्षार्थ पुस्तकों की तीन-तीन प्रतियाँ आना आवश्यक है।
7. रचनाएँ भेजने एवं अन्य सब प्रकार के पत्र-व्यवहार के लिए पता :–

प्रधान सम्पादक
जैनविद्या
B-20, गणेश मार्ग, बापूनगर
जयपुर 302015

पउमचरिउ में प्रतिबिम्बित

महाकवि स्वयम्भूदेव का व्यक्तित्व

– डॉ० गजानन नरसिंह साठे

☐

स्वयम्भूदेव अविवाद्य रूप से अपभ्रंश के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। उनकी महानता को स्वीकार करते हुए अपभ्रंश के दूसरे महाकवि पुष्पदन्त ने उनको व्यास, भास, कालिदास, भारवि, बाण, चतुर्मुख आदि की श्रेणी मे विराजमान कर दिया है। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने अपभ्रंश भाषा के काव्यों को आदिकालीन हिन्दी काव्य के अन्तर्गत स्थान देते हुए कहा है कि हिन्दी के पाँचो युगों के जितने कवियों को उनके द्वारा सम्पादित "हिन्दी काव्यधारा" मे संगृहीत किया गया है, उनमें स्वयम्भू सबसे बड़े हैं, वस्तुत: वे भारत के एक दर्जन अमर कवियों में से एक हैं। स्वयम्भू "महाकवि", "कविराज", "कविराज चक्रवती" जैसी उपाधियों से सम्मानित थे। अधिक विस्तार से स्वयम्भू की महानता का उल्लेख न करते हुए हम यहाँ पर इतना ही कहना पर्याप्त समझते है कि प्राचीन काल के रामकथात्मक काव्य और कृष्ण-पाण्डव-सम्बन्धी काव्य के क्षेत्रों मे स्वयम्भू का स्थान प्रथम श्रेणी में निर्धारित है। छन्द: शास्त्र के क्षेत्र में उन्होंने "स्वयंभू-छन्दस्" के रूप मे अपने आपको अमर बना दिया है। उपलब्ध अपभ्रंश साहित्य की ओर सरसरी दृष्टि से देखने पर भी ध्यान में आता है कि प्रबन्धकाव्य के क्षेत्र में स्वयम्भू अपभ्रंश के "आदिकवि" हैं, अपभ्रंश के रामकथात्मक काव्य के वे "वाल्मीकि" हैं, अपभ्रंश के कृष्ण-पाण्डव-कथात्मक-काव्य के "व्यास" हैं। अपभ्रंश का कोई भी परवर्ती कवि स्वयम्भू के प्रभाव से मुक्त नहीं रह सका है।

यह परम सौभाग्य की बात है कि स्वयम्भू की तीन कृतियाँ प्राय: अपने अविकल रूप में उपलब्ध हो गई हैं। फिर भी उनका बहुत कम परिचय उपलब्ध है। यहाँ तक कि उनका काल भी डॉ. भायाणी जैसे विद्वान् को केवल बाह्य प्रमाण के आधार पर निर्धारित करना पड़ा है।

वस्तुत: कवि की कृति ही उसके व्यक्तित्व की परिचायिका होती है। यदि कृति आत्म-निवेदनात्मक या आत्म-कथनात्मक हो, यदि वह आत्मनिष्ठ शैली में प्रस्तुत की गई हो, तो उसमें उसके कर्ता के व्यक्तित्व का स्पष्ट चित्र अंकित पाया जाता है। यदि वह परम्परागत कथात्मक हो, कथनात्मक या वर्णनात्मक हो, तो एक दृष्टि से कर्ता के व्यक्तित्व के प्रतिबिम्बित हो जाने की गुंजाइश उसमें कम होती है। फिर भी कोई भी कलाकृति, परम्परागत कथा-सूत्रों के आधार पर विरचित प्रबन्धकाव्यात्मक कृति भी अपने निर्माता

के व्यक्तित्व के प्रभाव से पूर्णतः मुक्त रह ही नहीं सकती। फिर परम्परागत कथा को प्रस्तुत करनेवाला प्रबन्धकाव्य तो फोटोग्राफ नहीं होता, वह तो चित्रकार द्वारा अंकित चित्र, रेखा-चित्र अथवा पेंटिंग होता है, जिसमें वह कलाकार अपनी रुचि के अनुसार सामग्री का चयन करके उसे प्रस्तुत कर सकता है, रंगों रेखाओं का मनोनुकूल प्रयोग कर सकता है, मूल सामग्री में से किसी अंश को न्यूनाधिक रूप में परिवर्तित, परिवर्धित, परिष्कृत करते हुए अथवा पूर्णतः छोड़कर, तो कभी उसमें नये सूत्र जोड़कर या नये रंग भरकर प्रस्तुत कर सकता है। परम्परागत कथा को लेकर, जब प्रबन्धकाव्य का रचयिता उसे अपने साँचे में ढालकर प्रस्तुत करता है, तब उसमें उसके व्यक्तित्व की झलक अनोखे रूप में दिखाई देने लगती है। जैन कवि स्वयम्भू के सम्मुख, राम-कथा सरिता भगवान् महावीर के मुख-गिरि-गह्वर से निकलकर क्रम से बहती हुई चली आ रही है। वह गौतम गणधर, गुणालंकृत धर्माचार्य, अनुत्तरवाग्मी भट्टारक कीर्तिधर (आचार्य विमलसूरि), आचार्य रविषेण की मनोभूमियों में से प्रवहमान होती हुई स्वयम्भू के सम्मुख आयी है – उन्होंने, अर्थात् कविराज स्वयम्भू ने उसमें अपनी बुद्धि से अवगाहन किया है। उन्होंने कहा है – मैं परम जिनों की श्रद्धा-भाव-पूर्वक वन्दना करके इस रामायण काव्य के माध्यम से अपने आपको प्रकट करता हूँ –

> इय चउवीस वि परम-जिण पणवेप्पिणु भावें।
> पुणु अप्पाणउ पायडमि रामायण – कावें॥

पउमचरिउ, संधि ।.। तथा २

स्वयम्भू की इस उक्ति के आधार पर यह कहा जा सकता है कि उनके "पउमचरिउ" के अन्दर उनकी आत्माभिव्यक्ति हुई है, उनके व्यक्तित्व की झलक अंकित हुई है। इस लेख में उस झलक को शब्दांकित करने का प्रयास करना है।

प्राचीन काल के कवि प्रायः अपने सम्बन्ध में मौन धारण किये हुए दिखायी देते हैं। वे साधारणतया अपने सम्बन्ध में कुछ नहीं कहते, अथवा कहते भी हों, तो बहुत कम। इसे हम "ख्याति-पराङ्मुखता" कहेंगे। स्वयम्भू इसी कोटि के ख्याति-पराङ्मुख कवि हैं। उन्होंने "पउमचरिउ" की प्रथम संधि में अपने पूर्ववर्ती रामकथाकार कवियों का उल्लेख किया है। जिनके प्रसाद से रामकथा-सरिता में उन्होंने अपनी बुद्धि के अनुसार अवगाहन किया, वे आचार्य रविषेण स्वयम्भू के प्रत्यक्ष दीक्षा या शिक्षा प्रदान करनेवाले गुरु नहीं हैं। रविषेणाचार्य ने अपना संस्कृत "पद्मपुराण" भगवान् महावीर के निर्वाण के 1204 वर्ष पश्चात् पूर्ण किया (677–678 ई०)। जब कि स्वयम्भू का काल डॉ० भायाणी ने 840–920 ई० अनुमानतः निर्धारित किया है। (पउमचरिउ, खण्ड 3, प्रस्तावना पृ० 41)। इससे स्पष्ट हो जाता है कि स्वयम्भू ने राम कथा को रविषेणाचार्य के मुख से नहीं सुना, अपितु उनके "पद्म-पुराण" से ग्रहण किया है। रामायणकार कवियों की परम्परा के अतिरिक्त, स्वयम्भू ने अपनी माता पद्मिनी और पिता मारुतदेव का उल्लेख किया है। वास्तव में स्वयम्भू प्रतिभा-सम्पन्न कवि थे, उन्होंने अपने कृतित्व के बल पर ही धनंजय की राजसभा में आश्रय पाया होगा। उन्हें "महाकवि", "कवि चक्रवर्ती" जैसी उपाधियाँ प्राप्त थीं और अनुमान किया जाता है कि स्वयम्भूदेव को उनके अपने जीवन काल

में ही बहुत ख्याति प्राप्त हो चुकी थी। ऐसे महान् कवि अपने सम्बन्ध में चुप्पी साधे बैठे हुए हैं – उन्होंने न आत्म-स्तुति की है, न अपनी कृतियों का यशोगान गाया है। हम उनकी यह उक्ति पढ़कर चकित हो जाते हैं कि वे उस निर्मल पुण्य पवित्र राम कथा का कीर्तन (णिम्मल-पुण्ण-पवित्तकह-कित्तणु) से आरम्भ कर रहे हैं, जिसको भली-भांति जानने समझने से स्थायी कीर्ति वृद्धि को प्राप्त हो जाती है (संधि 1.2.12) – चकित इसलिए हो जाते हैं कि जो कवि रचनाकारों, पाठकों, श्रोताओं की स्थायी कीर्ति की वृद्धि का मार्ग सूचित करता है, वह स्वयं अपना यथार्थ परिचय तक नहीं दे रहा है – वह अपनी कीर्ति का गान करने से तो बहुत दूर रहा है। उन्होंने अपनी उपाधि "कविराज" का प्रयोग भी अपने लिए एकार्ध स्थान पर ही किया है – बुद्धिएँ अवगाहिय कइराएँ (संधि 1.2.9)। वे चाहते, तो अपनी प्रशंसा करते हुए अपना परिचय दे देते, परन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया। उनकी इस प्रवृत्ति को ख्याति-पराङ्मुखता ही कहना चाहिए।

जिस प्रकार स्वयम्भू ने ख्याति-पराङ्मुख रहकर अपने सम्बन्ध में प्रायः मौन धारण किया है, उसी प्रकार उन्होंने अपने आश्रय दाता राष्ट्रकूट सम्राट् के सामन्त धनंजय का भी न परिचय दिया है, न उनकी स्तुति की है। उन्होंने "पउम-चरिउ" की कतिपय संधियों की पुष्पिका में अपने आपको "धनंजयाश्रित" कहा है। इय एत्थ पउम चरिए धणंजयासिय-सयम्भुएव-कए (संधि 1.16.10)। संधि 2, 17, 18 आदि के अन्त में इसी प्रकार उन्होंने धनंजय का उल्लेख किया है। जान पड़ता है कि स्वयम्भू की एक पत्नी "अमिअव्वा" (अमृताम्बा) ने उनसे "पउमचरिउ का 'विज्जाहर कण्ड' (विद्याधर काण्ड) और उनकी दूसरी पत्नी "आइच्चम्बिया आदित्याम्मा" ने उनसे "उज्झा काण्ड (अयोध्या काण्ड)" लिखवाया – अर्थात् उन दोनों ने अपने पति को उस काण्ड को लिखने में प्रेरणा दी होगी, लिखने में प्रोत्साहित किया होगा। उन्होंने कहा है—

णामेण साऽमिअव्वा सयम्भु घरिणी महासत्ता
तीए लिहावियमिणं···· (संधि 20, पुष्पिका)

उसी प्रकार, उन्होंने लिखा है (संधि 42, पुष्पिका) –

आइच्चुएवि-पडिमोवमाए आइच्चम्बिमाए।
बीअम उज्झा कण्डं सयम्भु-घरिणीय लेहवियं।।

जिस प्रकार स्वयम्भू ने अपने आपको "धणंजयासिय-सयम्भुएव" कहते हुए अपने आश्रय-दाता सामन्त धनंजय के प्रति कृतज्ञता का ज्ञापन किया है, उसी प्रकार उन्होंने उपर्युक्त "लिहावियं और लेहवियं" शब्दों द्वारा अपनी प्रेरणादायिनी दोनों स्त्रियों का ऋण प्रकट रूप में स्वीकार किया है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि स्वयम्भू ने उन तीनों की स्तुति नहीं की है, तथापि वे उनके प्रति कृतज्ञ हैं, कृतघ्न नहीं हैं। उनकी चरम कोटि की ख्याति-पराङ्मुखता ने उन्हें इन लोगों के विषय में भी अत्यधिक मितभाषी बना दिया है।

इसके साथ ही, स्वयम्भू में विनम्रता चरम सीमा तक विकसित हुई है। प्रकाण्ड पण्डित तथा प्रतिभा-सम्पन्न कवि होने पर भी वे अपने आपको काव्य-रचना आदि के क्षेत्र में अति अज्ञानी किस प्रकार बताते हैं, यह देखते ही बनता है। वे कहते हैं –

बुहयण सयम्भु पइँ विण्णवइ। मइँ सरिसउ अण्णु णाहिं कुकइ। सं. 1.3.1
स्वयम्भू बुधजनों के प्रति नम्रता-पूर्वक यह निवेदन कर रहे हैं – मुझ जैसा अन्य कोई कुकवि नहीं है। मैं व्याकरण नहीं जानता, वृत्तियों, सूत्रों, प्रत्याहारों, संधियों, विभक्तियों का मुझे सम्यक् ज्ञान नहीं है········पंच महाकाव्यो और भरत के नाट्य शास्त्र को सुना नहीं है, मैं पिंगल शास्त्र के प्रस्तार को नहीं समझ सकता हूँ, न भामह और दण्डी के अलंकार-विचार को अपना सका हूँ ········ ।

तेईसवीं संधि के आरम्भ में स्वयम्भू फिर एक बार सज्जनों और पण्डितों से निवेदन करते हैं – मैं कवि कर्म के विषय में कुछ भी नहीं जानता, मैं मन में मूर्ख हूँ। जिन बुधजनों के चित्र का अनुरंजन व्यास तक नहीं कर सके, तो व्याकरण और आगम से हीन हम जैसे लोगों के काव्य का ग्राहक कौन हो सकता है ?

इस सम्बन्ध मे यहाँ पर यह ध्यान मे रखना है कि स्वयम्भू पण्डितों, सज्जनों के सम्मुख इतने विनम्र हैं कि वे खल जनो की उपेक्षा करते हैं। उनके मत मे उस खल की अभ्यर्थना करने से क्या लाभ है, जिसे कोई भी बात अच्छी नहीं लगती, जिसे दूसरे किसी का भी यश नहीं भाता।

पिसुणें किं अब्भत्थिएँण, जसु को वि ण रुच्चइ। 1.3.14

इसमे दीन-हीन साधारण श्रेणी के कवि की गिड़गिड़ाहट नहीं है, यह तो सज्जनों, पण्डितों, काव्य का रसास्वादन करने की योग्यता रखनेवाले काव्य रसिकों के प्रति नम्र निवेदन है। विद्वान् परीक्षकों के सामने विद्वान् द्वारा विनम्रता धारण करना ही शोभा देता है, घमण्ड में चूर होकर उनको चुनौती देना, अथवा अपनी कृति की बढ़ाचढ़ाकर सराहना करते रहना विद्वान् के लिए उचित नही है। गोस्वामी तुलसीदास ने भी अपने सम्बन्ध में लगभग ऐसा ही कहा है –

कवि न होउँ नहीं बचन प्रवीनू। सकल कला सब विद्या हीनू।
आखर अरथ अलंकृति नाना। छंद प्रबंध अनेक विधाना।।
कविता विवेक एक नहिं मोरे।।·····················
कवि न होउँ नहिं चतुर कहावउँ। मानस, बाल-काण्ड 9.12

मतलब यह कि जिस प्रकार फल-भार से वृक्ष की शाखा झुकती है, जल-भार से बादल नीचे झुकता है, उसी प्रकार सच्चा प्रतिभाशाली कवि विद्वज्जनों के सामने विनम्रता से झुका ही रहता है। और कवि स्वयम्भू की विशेषता हमें तभी चकित कर देती है जब कि वे स्थान-स्थान पर दृष्टान्तों की झड़ी लगा देते हैं, जलविहार, युद्ध आदि के अनूठे शब्द-चित्र अंकित करते हैं, करुण, वीर, शृंगार रसों से पाठकों और श्रोताओ की मनोभूमि को परिप्लावित कर देते है। इस कवि के व्यक्तित्व में जिस स्तर की विनम्रता है, उसी स्तर का आत्म-विश्वास अपनी कृति की महानता के विषय में भी है। स्वयम्भू कहते हैं – मुझ स्वयम्भू कवि का यह काव्य-कमल जयशील हो। अर्थ-रूपी पराग से यह सुगन्धित है और विद्वान्-रूपी भ्रमर इसका रस पान करते हैं।

बीरह समास–णालं सद्द-दलं अत्थ-केसरुग्घवियं।
बुह महुयर, पीय रसं सयम्भु-कव्वुप्पलं जयउ।।

फिर वे कहते हैं –

यह रामकथात्मक काव्य रूपी नदी अक्षर-विन्यास रूपी जल प्रवाह से मनोहर, सुन्दर अलंकारों तथा छन्दों रूपी मत्स्यों से परिपूर्ण, दीर्घ समासों से अंकित है, यह संस्कृत और प्राकृत रूपी पुलिनों से अलंकृत देशी भाषा रूपी दो कूलों से उज्ज्वल है········ ।

कवि स्वयम्भू ने संस्कृत-प्राकृत का बना बनावा मार्ग छोड़कर सामान्य भाषा (सामण्ण भास), देशी भाषा (देशी भास) को अपना लिया है। जान पड़ता है कि उन्होंने जन साधारण के लाभ के लिए ऐसा किया है। फिर भी उन्हें विश्वास है कि ग्राम्य दोष से रहित होकर उनके वचन सुभाषित हो जाएंगे। "सामण्ण" भाषा में वे यत्नपूर्वक कुछ आगमयुक्ति गढ़ना चाहते है। जन सामान्य की भाषा को अपनाते हुए उन्हें लाभ पहुँचाने की उनकी यह कामना जितनी सराहनीय है, अपनी उक्तियों के विषय में उनका विश्वास उतना ही प्रशंसा के योग्य है। कवि ने इस बात को यों कहा है –

सामण्ण भास छुडु सावडउ। छुडु आगम जुत्ति का वि घडउ ॥
छुडु होन्तु सुहासिय-वयणाइँ। गामिल्ल-भास-परिहरणाइँ ॥ सं० 1.3.10–11

अब प्रश्न यह है कि अपने "अज्ञान" का वर्णन करके भी स्वयम्भू काव्य रचना क्यों करने जा रहे हैं ? काव्य रचना करने जा रहे हैं बुध जनों के लिए, अनाड़ियो के लिए नहीं। इस सम्बन्ध में उन्होने स्वयं स्पष्ट रूप से कहा है – मैं इस रामायण काव्य द्वारा अपने आपको प्रकट करने जा रहा हूँ : पुणु अप्पाणउ पायडमि रामायण-कावें। अर्थात् स्वयम्भू को अपने आपको प्रकट करने की, आत्माभिव्यक्ति की प्रबल कामना ने काव्य लेखन मे प्रेरित किया है। एक तो राम चरित्र स्वयं ही काव्य है – भले ही वह जैन परम्परा का क्यों न हो। दूसरे कवि की आत्माभिव्यक्ति की यह दुर्दम्य अभिलाषा उन्हें चुप बैठने नहीं दे रही है। वह हृदय सागर में इतनी उमड़ रही है कि कवि उसे अभिव्यक्त करने को विवश हो गये है। स्वयम्भू ने इस बात को यों प्रस्तुत किया है – पिंगल, अलंकार आदि को नहीं जानने पर भी वे इस व्यवसाय को, काव्य-रचना की प्रवृत्ति को छोड़ नहीं पा रहे हैं –

णउ बुज्झिउ पिंगल पत्थारु। णउ भम्मह-दण्डि-अलंकारु ॥
ववसाउ तो वि णउ परिहरमि। वरि रड्डा बद्धु कव्वु करमि ॥

अर्थात् स्वयम्भू केवल लिखने के लिए काव्य नहीं लिख रहे हैं, वह उनके अन्दर से निःसृत होता जान पड़ता है, इसलिए तो वह अनूठा बन गया है। उनके कथन के अनुसार, वे मन मे मूर्ख 'मुक्खु मणे' होने पर भी लोगों के सम्मुख अपनी बुद्धि को प्रकट करने जा रहे हैं –

हउ किं पि ण जाणमि मुक्खु मणें। णिय बुद्धि पयासमि तो वि जणें ॥
– संधि 23.1.8

अपनी यथार्थ वा कल्पित दुर्बलताओं का ध्यान रखनेवाला व्यक्ति ही श्रेष्ठता की भावना से उन्मत्त व्यक्ति की अपेक्षा कभी-कभी चमत्कार कर दिखाता है, स्वयम्भू इसके उदाहरण हैं। उनकी दोनों काव्य-कृतियाँ काव्य-रचना की दुर्दम्य अभिलाषा की अभिव्यक्तियाँ हैं।

राष्ट्रकूटों के राज्य में ब्राह्मण, जैन और बौद्ध तीनों सम्प्रदाय समान रूप से समादृत थे, यह उन शासकों की उदार-दृष्टि का परिचायक है। स्वयम्भू के व्यक्तित्व में यही उदारता पायी जाती है।

स्वयम्भू की धार्मिक उदारता और सन्तुलित दृष्टि का एक उदाहरण दिया जा सकता है। सुग्रीव को माया सुग्रीव से राज्य और तारा की पुनः प्राप्ति करा देने के पश्चात् राम चन्द्रप्रभ स्वामी के मन्दिर में जाकर उनकी वन्दना करते हुए कहते हैं –

जय तुहुँ गइ तुहुँ मइ तुहुँ सरणु............

अरहन्तु बुद्ध तुहुँ हरि हरु वि तुहुँ अण्णाण-तमोह-रिउ।

तुहुँ सुहुमु णिरंजणु परमपउ तुहुँ रवि बम्भु सयम्भु सिउ ॥ सं. 43.19.59

अर्थात् हे भगवन्! आप ही अरहन्त, बुद्ध, हरि और हर भी है। आप अज्ञानान्धकार के रिपु हैं। आप अगम्य, निरंजन, परमपदरूप हैं। आप सूर्य, ब्रह्मा, स्वयंभू शिव हैं।

इससे स्पष्ट दिखाई देता है कि स्वयम्भू एक ही सर्वोपरि शक्ति का अस्तित्व स्वीकार करते हैं, जिसे विभिन्न मतों के माननेवाले अरहन्त, बुद्ध, हरि, हर, सूर्य, ब्रह्मा आदि के नामों से अपनी-अपनी मान्यता के अनुसार नामाभिधान प्रदान करते हैं। यह दृष्टिकोण समन्वयात्मक है, उदार है।

इस स्थिति में भी, स्वयम्भू में चरम कोटि की धर्मनिष्ठा दिखायी देती है। वे जैन धर्म के आचार विचार सम्बन्धी तथा जैन दर्शन के साधना पक्ष का सम्यक् ज्ञान रखते थे। जिनेन्द्र स्तुतियाँ, आचार व्यवहार, दर्शन सम्बन्धी विचार आदि को उन्होंने अपने काव्य में स्थान-स्थान पर उल्लेखित किया है। 'पउम चरिउ' की कथा ऐसे जैन धर्म सम्बन्धी निष्ठा और जैन दार्शनिक ज्ञान से अनुप्राणित है। जान पड़ता है, जिस प्रकार वह बात उस काव्य का अभिन्न अंग बन गयी है, उसी प्रकार वह स्वयम्भू के जीवन को भी व्याप्त किये हुए है। 'पउमचरिउ' के बालि आदि पात्र त्रिभुवन नाथ जिनेन्द्र के अतिरिक्त किसी अन्य के सामने मस्तक कमल नहीं नत करते (संधि 13.10)। उसी प्रकार, सम्भवतः स्वयम्भू भी किसी नर की स्तुति नही करते जान पड़ते हैं, वे स्वयं जिनेन्द्र तथा वन्द्य मुनियों के सामने ही नत मस्तक होते हैं, अतः उन्होंने आश्रयदाता धनंजय तक की स्तुति नहीं की।

स्वयंभू प्रकाण्ड पण्डित थे। अपने आपको मूर्ख, अज्ञानी बताने वाले स्वयम्भू स्वयं अनेक शास्त्रों के ज्ञाता थे। 'णउ बुज्झिउ पिंगल-पत्थारू' कहने वाले स्वयम्भू पिंगल-शास्त्रज्ञ थे, संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश के छन्दों का उन्होंने लीलया भावानुकूल प्रयोग किया है। उनके द्वारा पद्धड़िका, वदनक, पारणक, मदनावतार, विलासिनी, प्रमाणी, गन्धोदक-धारा, द्विपदी, हेलाद्विपदी, मंजरी, आदि अस्सी से अधिक छन्दों का प्रयोग किया गया है। सम्भवतः स्वयम्भू ही कड़वक प्रणाली के आद्य प्रयोग-कर्ता हैं। उन्होने छन्दः शास्त्र पर 'स्वयम्भू-छन्दस्' नामक ग्रन्थ की रचना की और उसमें लगभग 48 विभिन्न कवियों के छन्दों को उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया। वे सच्चे अर्थों में 'छन्दःचूड़ामणि' सिद्ध हुए हैं। काव्य शास्त्र के अंगोपांगों का उन्होंने सम्यक् परिचय प्राप्त किया था। वीर, शृंगार, रौद्र,

शान्त रसों का उत्कट परिपोष पउमचरिउ में हुआ है। रूपक, सांग रूपक, दृष्टान्त उनके प्रिय अलंकार हैं। जब वे दृष्टान्त पर दृष्टान्त की झड़ी लगाते हैं, तो देखते ही बनता है। स्वयम्भू भाषाप्रभु थे, भाषा मानों उनकी दासी थी। संवाद और सन्देशात्मक उक्तियाँ लिखने में उन्होंने अद्भुत कौशल प्राप्त किया था। वैसे तो उनकी भाषा सहज सुन्दर प्रासादिक है – आवश्यकतानुसार वह ओजोगुण से ओतप्रोत भी हो जाती है। इस दृष्टि से राम आदि के द्वारा प्रेषित रावण के लिए सन्देश (सन्धि 58), रावण पक्ष के योद्धाओं और उनकी पत्नियों के संवाद (संधि 59.62) महत्त्वपूर्ण हैं। स्वयम्भू ने ज्योतिष, अंग-लक्षण-शास्त्र (संधि 36) नीतिशास्त्र, दर्शन आदि का अध्ययन किया था। युद्ध, नगर, व्यक्ति विशेष, वन, जल-विहार आदि के अनूठे शब्द-चित्र उन्होंने प्रस्तुत किये हैं। संक्षेप में, स्वयम्भू में पाण्डित्य कूट-कूटकर भरा हुआ था। उनमें कवित्व शक्ति अत्यधिक विकसित थी – अथवा यों कहना चाहिए कि जन्मजात कवित्व रूपी हीरे को उन्होंने पाण्डित्य के संस्कारों से अत्यधिक परिष्कृत बना दिया था, उनमें पाण्डित्य और कवित्व का स्वर्ण-संगम हुआ था, पाण्डित्य ने उन्हें कहीं भी नीरस नहीं होने दिया। जान पड़ता है उनके भाव, विचार बिलकुल साफ थे, कहीं कोई संदिग्धता उन्हें अनुभव नहीं होती थी, इसलिए उनकी भाषा और कथा-कथन दोनों सरल स्पष्ट हो गये हैं।

स्वयम्भू का पारिवारिक जीवन सुख-सम्पन्न था, उनके सुपुत्र त्रिभुवन प्रतिभाशाली कवि थे, जिन्होंने स्वयम्भू के अपूर्ण छोड़े हुए पउम-चरिउ को उतनी ही योग्यता के साथ पूर्ण किया। उनकी दोनों पत्नियाँ अमृताम्बा और आदित्याम्बा सुविज्ञ रही होंगी। काव्य का रसास्वादन करने में समर्थ रही होगी, अपने पति की योग्यता का उन्हें ज्ञान था, इसलिए तो उन्होंने पउमचरिउ के दो काण्ड स्वयम्भू से लिखवाये। स्वयम्भू पर सरस्वती और लक्ष्मी दोनों की असीम कृपा थी। वे मुनि नहीं थे, गृहस्थ थे, धर्म, अर्थ, काम की यथोचित अभिलाषा रखते थे। धर्म सम्बन्धी बातों का उल्लेख जितनी रुचि के साथ उन्होंने किया है, उतने ही उत्साह से उन्होंने राम-सीता, अंजना-पवनंजय आदि पात्रों के दाम्पत्य जीवन का चित्र अंकित किया है। उनका यह संयत, सन्तुलित दृष्टिकोण धर्मशील गार्हस्थ्य जीवन में उनके तृप्ति को प्राप्त होने के कारण ही विकसित हुआ होगा। संवेदनशील व्यक्ति होने के कारण स्त्रियों के प्रति उनका दृष्टिकोण उदार हो गया है। उन्होंने स्त्रियों की समय असमय निन्दा नहीं की, उन्होंने सीता, अंजनासुन्दरी, मन्दोदरी, कैकेयी का चित्रण बहुत सहानुभूति और आदर के साथ किया है। सीता और अंजना सुन्दरी के प्रति पाठकों में सहानुभूति और सम्मान के भाव को जगाया है। सीता के व्यक्तित्व का जो तेजोमय अंश पउमचरिउ में पाया जाता है, वह अन्यत्र नहीं पाया जाता। स्वयंभू ने पुरुषों के विवेकहीन, सहानुभूति-शून्य, अन्यायकारी दृष्टिकोण पर कठोर आघात किया है। सीता हनुमान के साथ राम के पास क्यों नहीं गयी? विभीषण द्वारा यह प्रश्न करने पर सीता ने कहा –

> जिणु लिय-भत्तारें अत्तियहुँ कुल हव जें पिसुणु कुलउत्तियहें।
> पुरिसहुँ चित्तइँ जासी जिसइँ ससहुन्स वि उहिसन्ति मिसइँ ॥
> वीसासु जन्ति णाउ इयरहु मि सुय देवर भायर पियरहु मि ॥

बिना पति के जानेवाली स्त्री उसके कुल और घर पर भी कलंक लगा देती हैं। पुरुषों के चित्त विषभरे होते हैं। स्त्री में कलंक न होने पर भी वे कलंक दिखाते हैं। वे दूसरों का तो विश्वास ही नहीं करते – यहाँ तक कि पुत्र, देवर, भाई और पिता का भी नहीं – संधि 78.6.2–4

अग्नि परीक्षा के पश्चात् राम ने सीता से, अकारण दुष्ट निन्दकों के कहने में आकर उसका जो अपमान किया, उसके लिए क्षमा-याचना की, फिर भी उसने कहा, नारी जन्म को मैं दुबारा प्राप्त होना नहीं चाहती। इस दृष्टि से 83वीं संधि द्रष्टव्य है, जिसे यद्यपि त्रिभुवन ने लिखा है, तथापि वह स्वयम्भू की विचारधारा के साथ मेल खाती है। स्वयम्भू द्वारा चित्रित आत्माभिमानी अंजना सुन्दरी का चित्र अनुपम है। उनकी कैकेयी भी तुलसीदास के रामचरितमानस की कैकेयी जैसी रघुकुल के जसरूपी वृक्ष के लिए कुल्हाडी नही सिद्ध हुई है। चन्द्रनखा के दुर्व्यवहार के दण्ड को देखकर हम कवि को सहानुभूति-हीन नही समझते। विमलसूरि और रविषेण से एक क़दम आगे बढ़कर, स्वयम्भू ने खरदूषण की अन्य स्त्रियों द्वारा चन्द्रनखा के दुश्चरित्र की ओर संकेत कराया है। इन सबसे स्पष्ट दिखायी देता है कि स्वयम्भू का नारी सम्बन्धी दृष्टिकोण अत्यधिक स्वस्थ है। उसके प्रति वे नित्य सहानुभूतिशील हैं।

संसार सारहीन है, नाशवान है। सांसारिक भोग-विलास शाश्वत सुख प्रदान नही कर सकते। फिर भी अर्थ और काम का अपने-अपने स्थान पर महत्त्व है। अतः यह कहना ठीक नहीं होगा कि प्रत्येक व्यक्ति बचपन में दीक्षा ग्रहण करे और घरबार का त्याग करके मोक्ष लाभ के हेतु तपस्या करने लगे। ऐसा हो जाए, तो सृष्टि परम्परा ही समाप्त हो जाएगी। अतः उचित यह है कि बचपन, युवावस्था आदि में धर्म कर्म का ध्यान रखा जाए और यथासमय दीक्षा ग्रहण करके यथासम्भव साधना की जाए। जैन परम्परागत राम-कथा के अधिकांश पात्र इसी प्रकार जीवन यापन करते हैं। जीवन मे शृंगार, वीर आदि रसों का आस्वादन करते हुए यथोचित समय पर शमभाव को प्राप्त होकर शान्त रस में मग्न हो जाते है।

स्वयम्भू का जीवन सम्बन्धी दृष्टिकोण पूर्णत. स्वस्थ है। राम (पद्म, बलदेव) उनके आदर्श है। अपने पूर्वकृत कर्म के अनुसार राम को भी सुख, दु:ख, लाभ, हानि को स्वीकार करना पड़ा, लक्ष्मण की मृत्यु का समाचार सुनकर वे विक्षिप्त हो गए, परिस्थितियों के चक्र में फंसकर उन्होंने सुशील पत्नी का त्याग किया, फिर भी वे सही मार्ग पर आये और अन्त में मोक्ष को प्राप्त हो गये। स्वयम्भू राम के इस पुरुषार्थ का आदर करते हैं, उनकी महानता का गान करते है और उनके चरित्र द्वारा अनेकानेक जीवनादर्शों की ओर संकेत करते हैं। कवि अपने जीवनादर्श को पउमचरिउ द्वारा प्रस्तुत करने का सफलता के साथ प्रयास कर सके हैं। यही उनके व्यक्तित्व की महानता है।

स्वयंभू का प्रदेश

– डॉ० विद्याधर जोहरापुरकर

☐

महाकवि स्वयंभू ने अपनी रचनाओं में अपने प्रदेश का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है। इस विषय पर विद्वानो ने जो अंदाज प्रकट किये हैं उन पर यहाँ विचार किया जा रहा है।

डॉ. हीरालाल जैन ने मत प्रकट किया था कि हरिवंशपुराणकर्ता जिनसेन और आदिपुराणकर्ता जिनसेन के समान स्वयंभू दक्षिण प्रदेश के निवासी होंगे क्योंकि उनके आश्रयदाता धनंजय, धवलइय और बन्दइय, नाम दाक्षिणात्य प्रतीत होते हैं (नागपुर यूनिवर्सिटी जर्नल – 1935, पृ. 78)।

पं नाथूराम प्रेमी का विचार था कि स्वयंभू पुष्पदन्त के समान बरार की तरफ़ के होंगे और वहा से राष्ट्रकूटो की राजधानी में पहुँचे होंगे (जैन साहित्य और इतिहास, 1956, पृ. 199)।

डॉ. देवेन्द्रकुमार जैन ने भी उपर्युक्त विचार का ही समर्थन किया है (अपभ्रंश भाषा और साहित्य, 1965, पृ. 60–61)।

इस विषय में दूसरा पक्ष पं. राहुल सांकृत्यायन ने प्रस्तुत किया। उनका विचार था कि जब राष्ट्रकूट सम्राट् ध्रुव ने कन्नौज पर सन् 780 में आक्रमण किया था तब वहाँ से स्वयंभू उनके मंत्री रयडा के साथ दक्षिण में पहुँचे (हिन्दी काव्य-धारा, 1945, पृ. 23)। इसी कारण आरम्भिक हिन्दी कवियों में स्वयंभू का समावेश किया जाने लगा।

डॉ. भोलाशंकर व्यास ने उपर्युक्त कल्पना को आगे बढ़ाते हुए स्वयंभू को कौशल प्रदेश का निवासी घोषित किया है (हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास, प्रथम भाग, 1958, पृ. 334)।

डॉ. नामबरसिंह इतनी स्पष्टता से तो यह बात नहीं कहते फिर भी उनका तात्पर्य शायद यही है। वे कहते हैं कि स्वयंभू पहले उत्तर के थे, फिर दक्षिण गये (हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, 1965, पृ. 181)।

पउमचरिउ के सम्पादक डॉ. भायाणी ने इन दो पक्षों में से पहले को स्वीकार किया है और उसके समर्थक अन्तरंग साक्ष्य के रूप में गोदावरी का वर्णन, चैत्रादि मासगणना आदि का उल्लेख किया है (पउमचरिउ, प्रथम भाग, 1953, भूमिका पृ. 11–12)।

इस विषय पर पं. परमानन्द शास्त्री द्वारा प्रकाशित नयनंदिकृत सकलविधिविधान काव्य के एक उद्धरण से महत्त्वपूर्ण सूचना मिलती है, यद्यपि शास्त्रीजी का ध्यान उस पर नहीं गया और इसी कारण उन्होंने राहुलजी के मत को ग्रहण किया (जैनग्रंथप्रशस्तिसंग्रह, भाग 2, 1962, भूमिका पृ. 45)। नयनंदिन् का यह उद्धरण ग्यारहवीं सदी का होने से विशेष ध्यान देने योग्य है। इसमें बताया गया है कि बराड देश के वाडगाम में वीरसेन और जिनसेन ने धवल और जयधवल की रचना की तथा यहीं पर पुंडरीक, धनंजय और स्वयंभू भी हुए (उपर्युक्त ग्रन्थ मूलपाठ पृ. 27)। सुविदित है कि बराड महाराष्ट्र के पूर्वी भाग का नाम है। इसी का अंग्रेजी रूपांतर बरार प्रचलित हुआ था तथा प्राचीन संस्कृत साहित्य में इसी क्षेत्र को विदर्भ कहते थे। इस क्षेत्र के मध्य भाग में आकोला शहर के दक्षिण में लगभग चालीस मील पर वाडेगांव नामका कस्बा है। इसके पास चार मील पर पातूर नामक स्थान पर बारहवीं सदी के कई जैन अवशेष मिले है जो नागपुर के संग्रहालय में हैं। यह वाडेगांव प्राचीन वाडगाम का स्थान हो सकता है। नयनंदिन् के उक्त कथन से यह तो स्पष्ट ही है कि स्वयंभू महाराष्ट्र के पूर्वी भाग बराड के निवासी थे।

स्वयंभू के पउमचरिउ के विशेष नामों की सूची देखने से पता चलता है कि इसमें महाराष्ट्र की 5 नदियों – तापी, कृष्णा, वेणा, गोदावरी और भीमरथी तथा 5 नगरों – पवनार, पैठन, नंदुरबार, करहाड और एलोर का उल्लेख हुआ है, साथ ही महाराष्ट्र के दो अंचलों – कोंकण और सेउणदेश (मराठवाड़ा) का भी उल्लेख हुआ है।

अन्त में एक और बात की ओर हम विद्वानों का ध्यान दिलाना चाहते हैं। पउम-चरिउ के विद्वान् सम्पादक डॉ. भायाणी ने बड़े परिश्रम से इस ग्रन्थ के शब्दों का कोष परिशिष्ट में दिया है तथा उनमें बहुत से शब्दों के समानरूपवाले गुजराती, हिन्दी, तथा मराठी शब्दों का भी उल्लेख किया है। इनमें उल्लिखित गुजराती शब्द तो शताधिक हैं किन्तु हिन्दी और मराठी के दो चार ही हैं। यह सम्पादक के गुजराती भाषा से निकटता का परिणाम है। विचार करने पर हमे ज्ञात हुआ कि इन शताधिक गुजराती शब्दों में से अधिकांश मराठी में भी लगभग उसी रूप मे प्रचलित हैं। आखाड़ा, आसूं, आज, अंधार, आपण, उखळ, फूल, काठी, कंठी, खांब, झगड़ा, झालर, देउळ, माणुस, मेळा, लाक्कड, वाकडा, बाप, वीज, सुना आदि संज्ञा और विशेषण तथा आण, काढ, काय, खण, खा, खुप, खेळ, गाज, गळ, गा, घाल, जाण, जूझ, जोख, डोल, नाच, तोड़, दाखव, दिस, दे, धर, पड, पीड, पूज, फुट, भर, भिड, मान, मार, रड, रिझ, लाग, वाज, वळ, विनव, शिकव, हस, हिंड, हेर, हो आदि क्रियाएं जितनी गुजराती हैं उतनी ही मराठी हैं। स्वयंभू के मराठी क्षेत्र का होने का अनुमान इससे पुष्ट होता है।

अपभ्रंश साहित्य में महाकवि स्वयम्भू

— डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल

□

स्वयम्भू अपभ्रंश साहित्य के सर्वाधिक चर्चित एवं यशस्वी महाकवि हैं। उनकी रचनाओं ने अपभ्रंश के अधिकांश कवियों का मार्ग-दर्शन किया है इसलिए सभी उत्तर-कालीन कवियों ने उनका श्रद्धापूर्वक स्मरण किया है। उन्हें अपभ्रंश साहित्य का आचार्य भी कहा जा सकता है। स्वयम्भू को अपभ्रंश का प्रथम महाकवि होने का श्रेय भी प्राप्त है। वर्तमानयुगीन महापंडित राहुल सांकृत्यायन जैसे महारथियों ने स्वयम्भू को हिन्दी का प्रथम महाकवि एवं उनके 'पउमचरिउ' को हिन्दी का प्रथम महाकाव्य स्वीकार किया है। उनके अनुसार संस्कृत काव्य गगन में जो स्थान कालिदास का है, हिन्दी में तुलसी जिस स्थान पर हैं, प्राकृत में जो स्थान 'हाल' ने प्राप्त किया, अपभ्रंश के सारे काल में स्वयम्भू वही स्थान रखते हैं।[1]

महाकवि स्वयम्भू ने छः कृतियों को लिखने का गौरव प्राप्त किया लेकिन अभी तक पउमचरिउ, रिट्ठणेमिचरिउ एवं स्वयम्भू छन्द ये तीन रचनाएँ ही प्राप्त हो सकी हैं और सोद्धयचरिउ, पंचमिचरिउ एवं स्वयम्भू व्याकरण जैसी कृतियाँ अभी तक अनुपलब्ध हैं। राजस्थान, गुजरात, एवं उत्तरप्रदेश के कुछ महत्त्वपूर्ण शास्त्र-भण्डार अभी तक नहीं देखे जा सके हैं। हो सकता है उनमें से किसी शास्त्र-भण्डार में से एक दो कृतियाँ प्राप्त हो जाएँ। लेकिन पउमचरिउ, रिट्ठणेमिचरिउ एवं स्वयम्भू छन्द जैसी कृतियाँ ही स्वयम्भू की विद्वत्ता, यश एवं गौरव के लिए पर्याप्त हैं। पउमचरिउ रामकथा पर आधारित श्रेष्ठ महाकाव्य है जो 90 संधियों में पूर्ण होता है। इनमें से 83 संधियाँ स्वयं स्वयम्भू द्वारा तथा शेष 7 उसके पुत्र त्रिभुवन स्वयम्भू द्वारा निबद्ध हैं। रिट्ठणेमिचरिउ हरिवंशपुराण के नाम से प्रसिद्ध है जो 112 संधियों में पूर्ण होता है। इस महाकाव्य का 18 हजार श्लोक प्रमाण आकार है। इस काव्य में २२वें तीर्थंकर नेमिनाथ, श्रीकृष्ण एवं पांडवों का

वर्णन मिलता है। यह महाकाव्य अभी तक अप्रकाशित है। 'स्वयम्भू छन्द' छन्दःशास्त्र का बहुत ही महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसके प्रारम्भ के तीन अध्यायों में प्राकृत के वर्णवृत्तों का, शेष पाँच अध्यायों में अपभ्रंश के छन्दों का विवेचन किया गया है। इसमें दोहा, अडिल्ल, पद्धडिया आदि छन्दों के स्वोपज्ञ उदाहरण दिये गये हैं।

स्वयम्भू का प्रभाव आगे होने वाले सभी अपभ्रंश कवियों पर समान लक्षित होता है तथा अधिकांश कवियों ने अपने काव्यों में उसका सादर स्मरण किया है। अपभ्रंश के धाकड़ महाकवि पुष्पदन्त ने अपने पूर्ववर्त्ती जिन कवियों का उल्लेख किया है उनमें स्वयम्भू को विशिष्ट स्थान दिया है तथा उन्हें 'पुरुषोत्तम' नाम से सम्बोधित किया है।[7] पुष्पदन्त ने एक अन्य स्थान पर पूर्ववर्त्ती चार महाकवियों में स्वयम्भू का स्मरण किया है।[8] यही नहीं उन्होंने यहाँ तक लिखा है कि कविराज स्वयम्भू महान् आचार्य हैं जो सहस्रों स्वजनों द्वारा घिरे हुए रहते हैं।

कइराउ सयंभु महायरिउ,
सो सयण सहासहिं परियरिउ ।।

पुष्पदन्त के महापुराण एवं णायकुमारचरिउ पर स्वयम्भू के दोनों महाकाव्यों एवं पंचमीचरिउ के कथानकों का स्पष्ट प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। यद्यपि भाषा एव शैली की दृष्टि से पुष्पदन्त के काव्य अधिक क्लिष्ट हैं लेकिन वर्णनशैली एवं विषय की दृष्टि से पुष्पदन्त स्वयम्भू से अधिक प्रभावित मालूम देते है।

10वीं शताब्दी मे होनेवाले राजस्थानी कवि हरिषेण की 'धम्मपरिक्खा' अपभ्रंश की अच्छी कृति मानी जाती है। हरिषेण ने संवत् 1044 में इस ग्रन्थ की रचना करने का गौरव प्राप्त किया था। उन्होंने महाकवि स्वयम्भू का धम्मपरिक्खा मे निम्न प्रकार सादर उल्लेख ही नहीं किया अपितु उन्हें लोक अलोक को जाननेवाले महान् देवता भी बतलाकर उनके ज्ञान की महिमा को प्रकट किया है –

जो सयंभु सो देउ पहाणउ, अह कह लोयालोय वियाणउ ।।

11वीं शताब्दी मे होनेवाले महाकवि वीर का 'जम्बूसामिचरिउ' वीर एवं शृंगार रस का महत्त्वपूर्ण महाकाव्य है जो 11 संधियों में पूर्ण होता है। वीर कवि स्वयम्भू के अत्यधिक प्रशंसक थे तथा उन्हें अपने मार्गदर्शक के रूप में मानते थे। उन्होंने 'जम्बूसामिचरिउ' में स्वयम्भू के लिए निम्न पंक्ति लिखकर अपने श्रद्धा-सुमन अर्पित किये है –

संते सयंभू ए ए बे एक्को कइत्ति बिन्नि पुणु भणिया ।

इसी शताब्दी के अन्तिम चरण में होनेवाले महाकवि नयनन्दिन् की सुदंसणचरिउ एवं सयलविहिविहाणकव्व अपभ्रंश भाषा की सुन्दरतम कृतियाँ हैं। नयनन्दिन् ने अपने पूर्ववर्त्ती कवियों का स्मरण करते समय स्वयम्भू का भी सादर उल्लेख किया है –

चउमुह सयंभु कइ पुप्फयंतु,
इउ सयंभु भुवणं पि रंजउ ।

– सयलविहिविहाणकव्व

15वीं शताब्दी में रइधू अपभ्रंश के ख्यातिप्राप्त कवि हुए। उन्होंने अपभ्रंश में सर्वाधिक संख्या में काव्यनिर्माण करने का गौरव प्राप्त किया। रइधू ने अपने काव्यों में महाकवि स्वयम्भू का बहुत ही श्रद्धा के साथ स्मरण किया है।[4] उनके अरिट्ठणेमिचरिउ, मेहेसर चरिउ, बलहद्दपुराण जैसे काव्यों पर विषय, वर्णनशैली, छन्द आदि की दृष्टि से स्वयम्भू का प्रभाव परिलक्षित होता है।

सुलोयणाचरिउ के रचयिता गणि देवसेन ने महाकवि स्वयम्भू को सरस्वती की रक्षा करनेवाला कवि लिखा है। साथ में यह भी लिखा है कि उसी सरस्वतीरूपी गाय का दुग्ध-पान कर वह स्वयं भी काव्य-रचना में प्रवृत्त हो रहा है –

चउमुह सयंभु पमुहेहिं रक्खिय बुहिय आ पुप्फयंतेण।
सरसइ सुरहीए पयंपियं सिरि देवसेणेण॥ 10.1

इसी प्रकार और भी उद्धरण एकत्र किये जा सकते हैं जिनमें स्वयम्भू के पांडित्य एवं प्रतिभा का स्मरण किया गया हो। वास्तव मे स्वयम्भू अपभ्रंश के महान् कवि हैं जिनका अपभ्रंश के विकास में सर्वाधिक योगदान रहा। उन्होंने अपने काव्यों के माध्यम से अपभ्रंश भाषा की इतनी सुदृढ़ नीव रखी कि आगे के पाँचसौ वर्षों तक उस पर अनेक महल खड़े किये गये और हिन्दी भाषा के विकास तक उसमें बराबर काव्य-रचनाएं की जाती रहीं। लेकिन अभी तक अपभ्रंश साहित्य का अधिकांश प्रकाश में नहीं आया है और अपने प्रकाशन की वह बाट जोह रहा है। आशा है विद्वानों का ध्यान इस ओर जायगा।

---

1 देखिये ब्र. प. चन्दाबाई अभिनन्दन ग्रन्थ – पृ. 413

2 पुण सयंभु पुरिसोत्तिम णामें, पुरिस पुंडरीयं जयकामें – उत्तरपुराण

3 चउमुहु सयंभु सरिहरिसु दोणु।

4 पुणवि सयंभु महाकइ जायउ।

व्रतपालन का महत्त्व

जिह अण्णाण-कण्णें जिणवयणइ,
जिह गोट्ठङ्गणे वरमणिरयणइ ।
जिह उवयारसयइँ अकुलीणएँ,
वयइँ जेम चारित्तविहीणएँ ।।

जिस प्रकार अज्ञानी के कानों में जिनवचन, गोष्ठी के आङ्गण में अच्छे मणिरत्नों का प्रदर्शन एवं कुलहीन पुरुषों के प्रति सैंकड़ों उपकार व्यर्थ हैं वैसे ही चारित्रहीन व्यक्ति के द्वारा व्रतपालन भी व्यर्थ है ।

– प. च. 8.8.5-6

ब्रह्मचर्य की महिमा

जो दुद्धरु बम्भचेरु धरइ,
तहो जमु आरुट्ठउ कि करइ ।।

जो दुर्द्धर ब्रह्मचर्य का पालन करता है उसका स्वयं यमराज भी क्या बिगाड़ सकते हैं ?

– प. च. 34.5.5

स्वयम्भूकालीन साहित्यिक परिस्थितियाँ

–पं० विष्णुकान्त शुक्ल

□

साहित्य एवं शिक्षा का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। अतः किसी भी कवि के समय की साहित्यिक परिस्थितियों का विवेचन करते समय शिक्षा पर ध्यान देना भी आवश्यक है। इसी नाते यहां तत्कालीन शिक्षा के सन्दर्भ भी द्रष्टव्य हैं।

स्वयंभू का युग सिद्ध सामन्तों का युग था। उस युग में शिक्षा ग्रहण करना ब्राह्मण एवं व्यापारी वर्ग के बालकों का ही धर्म समझा जाता था। प्रारम्भिक पाठशालाओं के अध्यापकों का समाज में विशेष महत्त्व नहीं था। प्रायः ग्राम का पुजारी अथवा पटवारी ही पढ़ाने का कार्य करता था। कृषि के पकने अथवा विवाह आदि विशिष्ट अवसरों पर लोग अपने सामर्थ्य के अनुसार उक्त प्रकार के अध्यापकों को भेंट दिया करते थे। औषध देना और पत्र आदि लिखना भी अध्यापक का ही कार्य था।

उच्च शिक्षा संस्कृत के अध्ययन के बिना अपूर्ण मानी जाती थी। वेद, व्याकरण, ज्योतिष, साहित्य, मीमांसा, पुराण और न्याय आदि पठनीय एवं पाठ्य विषय होते थे। धर्मशास्त्र के अनुसार पहले द्विजों को द्वादश वर्षों तक वेदाध्ययन का अधिकार था, किन्तु इस समय इस नियम का अक्षरशः पालन नहीं था। क्षत्रिय सैनिक भी शिक्षा को ही सर्वस्व समझने लगे थे। वैश्य लोगों ने वेद का अध्ययन छोड़ दिया था। ब्राह्मणों में भी पुरोहित आदि व्यवसायी लोग ही वेदाध्ययन किया करते थे। धर्मशास्त्र का अध्ययन राजकीय सेवा दिलाने में सहायक होता था। फलित ज्योतिष भी विशिष्ट पाठ्यविषय था।

मठ, अग्रहार, ग्राम एवं व्यक्तिगत संस्थाएं शिक्षा का प्रबन्ध किया करती थीं। धारवाड़ जिले के भुज्जवेश्वर मन्दिर से सम्बद्ध एक मठ के लिए दो सौ एकड़ भूमि दान में मिली हुई थी। यहाँ विद्यार्थियों को भोजन और शिक्षा निःशुल्क प्राप्त होती थी। मनगोली, बेलाम्बे और दक्षिणेश्वर के मन्दिरों में भी पाठशालाएँ थीं। कन्हेरी और वलभी के समृद्ध पुस्तकालय भी तत्कालीन शिक्षा संस्थाओं के प्रमाण हैं।

कलस (एक अग्रहारा ग्राम) में ब्राह्मणों के दो सौ परिवार रहते थे। ये सभी व्याकरण, राजनीति, साहित्यिक निबन्ध, विज्ञान, कथा साहित्य, एकाक्षर न्याय, व्याख्या तथा आलोचना मे पारंगत थे। इस ग्राम में एक विद्यालय चलता था, जिसमें दूर दूर से शिक्षार्थी आते थे। बीजापुर जिले का सलोतगी का विद्यालय अत्यन्त प्रसिद्ध था। इसे कृष्ण तृतीय के मन्त्री नारायण ने बनवाया था। 945 ई० में इसकी बढ़ती हुई छात्र-संख्या के लिए सत्ताईस छात्रावासों का प्रबन्ध किया गया था। इसके प्रधानाचार्य का वेतन पचास निवर्तन (दो सौ पचास एकड़ भूमि की आय के बराबर) होता था।

इस प्रकार इस युग में लगभग बीस ग्राम ऐसे थे जो राज्य द्वारा ब्राह्मणों को दान में दिये गये थे, और ब्राह्मण उनकी आय से विद्यालय चला रहे थे। इनको ही अग्रहारा कहा जाता था। वेलूर, सोरतूर आदि अनेक ग्रामों में भी विद्यालय चल रहे थे। आजकल के समान पाठशालाएँ राज्य की ओर से भी चलायी जाती थीं, और व्यक्तिगतरूप से भी। "इष्टापूर्ति" की मान्यता के कारण विद्यालयो को पर्याप्त रूप मे चन्दा और दान मिल जाता था। महाराज तुगवर्मन् ने अपने मन्त्री के कहने पर एक विद्यालय के लिए तीन गाँव दान में दिये थे। इसप्रकार स्वयंभू के युग मे शिक्षा का प्रबन्ध पर्याप्त रूप से सन्तोषजनक था।

शिक्षा-व्यवस्था से स्पष्ट है कि उस समय संस्कृत की विशेष उन्नति हो रही थी। साथ ही कर्णाटक में "कनारी साहित्य" भी उन्नति कर रहा था। काव्य और उच्चकोटि के साहित्य की रचना में दाक्षिणात्यों का योगदान उल्लेखनीय है। तत्कालीन दक्षिणी कवियों ने अपने पूर्ववर्ती साहित्य का अध्ययन किया था। राष्ट्रकूट राजाओं का वर्णन करने वाले सभी कवि सुबन्धु और बाणभट्ट की रचनाओं से प्रभावित दिखायी देते हैं। गोविन्द तृतीय का दानपत्र इस बात का स्पष्ट प्रमाण है। उस पर लिखा हुआ गद्य बाणभट्ट के विकटबन्ध गद्य के आधार पर ही लिखा हुआ ज्ञात होता है।

इस युग में अनेक साहित्यकार भी सामने आये। इनमे कुमारिल भट्ट, शकर और वाचस्पति दर्शन के क्षेत्र में, लल्ल और उसका शिष्य आर्यभट्ट द्वितीय गणित में, कामन्दक और शुक्र राजनीति में निर्बाध गति से लिख रहे थे। इसी युग में अनेक स्मृतियों और पुराणों को भी लेखबद्ध किया गया। काश्मीर में इसी समय काव्य शास्त्र (अलंकार आदि) का सांगोपांग विवेचन हुआ था। दक्षिण के किसी भी विद्वान् ने उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर काव्यशास्त्र पर नही लिखा। (भोज का "सरस्वती कण्ठाभरण" और हेमचन्द्र का "काव्यानुशासन" मिलते है, किन्तु ये बाद की रचनाएं हैं।) अमोघवर्ष का "कविराजमार्ग" ही इस बात का प्रमाण है कि दक्षिण में भी काव्यशास्त्र का अध्ययन किया जाता था किन्तु यह भी दण्डी के "काव्यादर्श" पर ही आधारित है। इस प्रकार इस युग में कोई भी दक्षिणी लेखक काव्यशास्त्र की दिशा में आगे नहीं बढ़ पाया। हाँ, कुछ लेखक संस्कृत के अमर लेखक बन चुके हैं। राजशेखर ने "कर्पूरमंजरी" नामक प्रसिद्ध प्राकृत सट्टक की रचना की। साथ ही उनका प्रसिद्ध संस्कृत ग्रन्थ काव्यमीमांसा है। डॉ० भण्डारकर ने "नलचम्पू" के लेखक त्रिविक्रम भट्ट को इन्द्र तृतीय के बेगुमरा विवरण लिखनेवाला त्रिविक्रम स्वीकार किया है। इसका समय 915 ई० था। "नलचम्पू" अन्य सभी चम्पू काव्यों में प्राचीनतम

है। अतः चम्पू रचना में दक्षिण सर्वप्रथम आगे आता है। हलायुध का "कवि-रहस्य" भी कृष्ण तृतीय के समय की रचना है। इसकी कविता में धातु-पाठ भी चलता है और साथ ही राष्ट्रकूटों के राज्य का वर्णन भी है। यह रचना "भट्टिकाव्य" और "रावणार्जुनीय" आदि के समान है। सोड्ढल की "उदय सुन्दरी कथा चम्पू" भी इस युग के अन्तिम चरण की रचना है। सोड्ढल कोङ्कण नरेश मुम्मुणिराज के आश्रय में रहता था। उपर्युक्त लेखकों की रचनाएँ संख्या में बहुत थोड़ी हैं। साथ ही उनका महत्त्व भी विशेष नहीं है। अब सिद्धसामन्त युग में जैन साहित्य की रचना की प्रगति पर विचार किया जाता है।

अनेक राष्ट्रकूट राजा अमोघवर्ष प्रथम और इन्द्र तृतीय आदि या तो जैन थे या जैनधर्म के संरक्षक थे। उनके आश्रय में अनेक जैन लेखक मिलते हैं। यद्यपि आठवीं शताब्दी में हरिभद्र ने कई पुस्तकें लिखी थीं, परन्तु उसके प्रदेश के विषय में यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि वह कहाँ का निवासी था। अन्य लेखकों में "आप्तमीमांसा" का लेखक समन्तभद्र उल्लेखनीय है। यह लेखक भी संकेतित युग से कुछ पहले का है। इस युग में "आप्तमीमांसा" पर अनेक टीका-ग्रन्थ और आलोचना-ग्रन्थ लिखे गये। अकलंक देव की "अष्टशती" टीका राष्ट्रकूटों के युग में ही लिखी गई थी। अकलंक देव को कुछ लोग कृष्ण प्रथम का पुत्र मानते हैं। "आप्तमीमांसा" की अष्टसहस्री टीका के लेखक विद्यानन्द कुछ ही समय बाद हुए थे।

सामन्त युग में जैन लेखकों ने न्याय शास्त्र पर भी पर्याप्त मात्रा में लिखा था। आठवीं शती के माणिक्यनन्दिन् ने न्यायग्रन्थ "परीक्षामुख सूत्र" की रचना की थी। इस पर नवीं शती में प्रभाचन्द्र ने टीका लिखी। प्रभाचन्द्र ने ही "न्यायकुमुदचन्द्रोदय" की रचना की।

कृष्ण के पुत्र श्रीवल्लभ के समय पुन्नाट संघीय जिनसेन प्रथम हुए जिन्होंने 783 ई० में हरिवंशपुराण की रचना की।

अमोघवर्ष प्रथम के आश्रय में भी अनेक जैन लेखक हुए। अमोघवर्ष अपने साहित्य प्रेम के लिए प्रसिद्ध है। जिनसेन द्वितीय का आदिपुराण इस ही के काल में लिखा गया जो अपूर्ण ही रह गया। "पार्श्वभ्युदय" नामक ग्रन्थ में जिनसेन ने "मेघदूत" की प्रत्येक पंक्ति लेकर भगवान् पार्श्वनाथ की जीवनी का वर्णन किया है। शाकटायन की "अमोघ-वृत्ति" व्याकरण की सुप्रसिद्ध रचना है। वीराचार्य का "गणितसारसंग्रह" गणित पर एक प्रामाणिक ग्रन्थ है। ये चारों ग्रन्थ अमोघवर्ष प्रथम के समय में ही लिखे गये थे।

कनारी का सर्वप्रथम काव्य-शास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थ "कविराजमार्ग" अमोघवर्ष ने ही निर्मित कर वितरित किया था। "प्रश्नोत्तरमाला" के लेखक के विषय में अभी तक निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। किसी ने इसे शंकराचार्य की रचना स्वीकार किया है, कोई इसे विमल की रचना मानते हैं, किसी-किसी ने इसे अमोघवर्ष की ही रचना माना है। डॉ० थामस इसे अमोघवर्ष की ही कृति मानते हैं। दसवीं शती के मध्य में दक्षिणी कर्नाटक में चालुक्य वंश की राजधानी "गंगधारा" भी साहित्यिक प्रगति के लिए उल्लेखनीय रही है। इसी में "यशस्तिलक चम्पू" की रचना हुई थी। "नीतिवाक्यामृत" की रचना भी

यहीं पर हुई थी। इस प्रकार दक्षिण का सर्वप्रथम ग्रन्थ यशस्तिलक चम्पू काव्य ही था। द्वितीय रचना राजनीति सम्बन्धी थी, परन्तु यह रचना चाणक्य के सुप्रसिद्ध अर्थशास्त्र पर ही आधारित है। इसमें मौलिकता प्रायः नहीं है। उस समय कर्णाटक में जैन मत का बहुल प्रचार था।

दसवीं शती में अनेक जैन कनारी लेखक हुए थे। 902 ई० मे कवि पम्प का नाम उल्लेखनीय है। यह कनारी साहित्य का आदि कवि था। इसने 941 ई० में आदि-पुराण की रचना की थी। पम्प की दूसरी रचना 'विक्रमार्जुन विजय' एक ऐतिहासिक ग्रन्थ है। इसमें कवि ने अपने आश्रयदाता अरिकेसरिन् की प्रशंसा करते हुए उसे अर्जुन के समान पराक्रमी बताया है। इस ग्रन्थ में इन्द्र तृतीय द्वारा उत्तर भारत पर किये गये आक्रमण का उल्लेख हुआ है। पम्प के अतिरिक्त 'असग' और 'जिनचन्द्र' भी कनारी लेखकों में थे, कवि 'पोन्न' ने इसका उल्लेख किया है, किन्तु इनकी रचनाएँ अभी तक अप्राप्त हैं। पोन्न कन्नड़ी भाषा का प्रसिद्ध कवि हुआ है। कवि चक्रवर्ती, उभय-कवि-चक्रवर्ती, सर्वदेव कवीन्द्र और सौजन्यकुन्दांकुर आदि इसकी उपाधियाँ थी। इसके गुरु का नाम इन्द्रनन्दिन् था। राष्ट्रकूट राजा कृष्ण तृतीय (अकालवर्ष) ने इसे 'उभय-कवि-चक्रवर्ती' का सम्मानसूचक पद प्रदान किया था। संस्कृत और कन्नड़ी भाषा पर इनका समान अधिकार था। पोन्न की मुख्य रचना 'शान्तिनाथ पुराण' और 'जिनाक्षरमाला' मानी जाती है। मारसिंह द्वितीय के मंत्री चामुण्डराय ने 'चामुण्ड पुराण' की रचना की थी। यह भी दसवी शती की रचना है।

रन्न भी कन्नड़ी (कनारी) साहित्य का विशिष्ट कवि है। इसने बंकापुर मे अजित-सेनाचार्य के पास रहकर सिद्धान्त, काव्य, छन्द, अलंकार, कोष और महाकाव्यो का अध्ययन किया था। गंगराज के मन्त्री चामुण्डराय के सहयोग से रन्न ने राजकवि का सम्मान प्राप्त किया। कविरत्न, कविचक्रवर्ती, कविकुंजरांकुश और उभयभाषा कवि इसकी उपाधियाँ थी। 'अजित पुराण' और 'साहस भीम विजय' (अथवा गदायुद्ध) इसकी दो रचनाएँ उपलब्ध हैं। इन पौराणिक रचनाओ के साथ धनपाल का प्राकृत कोष 'पायल लच्छी' इसी युग की रचना माना जाता है।

उपर्युक्त साहित्य के अतिरिक्त इस युग मे सिद्धों ने भी पर्याप्त रचना की है। सिद्ध लोग परम्पराओं में बद्ध जीवन को सहज और सरल बनाने का उपदेश देते थे। बंगाल के राजा धर्मपाल और देवपाल के समय में अनेक सिद्धों के आविर्भाव का संकेत मिलता है। राहुल सांकृत्यायन ने चौरासी सिद्धो के नामों का उल्लेख किया है, इनमें सरहपा, शबरपा, डोम्भिपा, कन्हपा, एव कुक्कुरिपा आदि प्रमुख हैं। सरहपा के बत्तीस ग्रन्थ (विशेषतः दोहाकोष), शबरपा का 'चर्यापद', लुइपा के 'उपदेश', डोम्भिपा के इक्कीस ग्रन्थ (मुख्यतः डोम्भिगीतिका, योगचर्या, अक्षरद्विकोपदेश), कण्हपा के चौहत्तर ग्रन्थ (अधिकांशतः दार्शनिक विषयों पर) और कुक्कुरिपा के सोलह ग्रन्थ विशेष प्रसिद्ध हैं।

सिद्धों के अतिरिक्त नाथ योगी भी इस युग में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह कर रहे थे। इनमें मुख्य रूप से गोरखनाथ, चौरंगी नाथ, गोपीचन्द,

चुणकरनाथ, भरथरी, जलन्ध्रीपाव आदि का उल्लेख किया जाता है। गोरखनाथ के कम से कम चौदह और अधिकतम चालीस ग्रन्थ माने जाते हैं।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि कवि स्वयम्भू के लिए साहित्यिक परिस्थितियाँ अनुकूल थीं। उत्तर से लेकर दक्षिण तक अनेक भाषाओं मे अनेक विषयों पर रचना हो रही थी। निश्चित ही कवि को अपने परिवेश और वातावरण से प्रेरणा मिली थी। वास्तव में सामन्त युग स्वयम्भू जैसे मेधावी कवि के लिए अनुकूल और प्रेरक युग था।

सहायक ग्रन्थ सूची :-

1. एपीग्राफिया इण्डिका भाग 4, पृ. 60, 180, 358
2. ,, ,, ,, 5, पृ. 122, 175
3. ,, ,, ,, 6, पृ. 72, 252
4. ,, ,, ,, 8, पृ. 182
5. ,, ,, ,, 9, पृ 28
6. ,, ,, ,, 13, पृ. 317
7. इण्डियन एण्टीक्वेरी, 7/67, 8/21, 12/216, 12/253, 18/273, 1904/197, 1914/205
8. 'राष्ट्रकूटाज़ एण्ड देअर टाइम्स' (डॉ० अल्तेकर)
9. मैसूर के शिलालेख
10. विंटरनिट्ज एवं कीथ के संस्कृत साहित्य के इतिहास
11. पीटर्सन की रिपोर्ट 2/79
12. ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लौजिक (विद्याभूषण)
13. यशस्तिलक चम्पू (सोमदेव सूरि)
14. कर्नाटक भाषा भूषण भूमिका – पृ० 13, 14, 15
15. जैन धर्म का प्राचीन इतिहास, भाग २ (पं० परमानन्द जैन)
16. हिन्दी साहित्य का इतिहास (डॉ० नगेन्द्र)
17. प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास (डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री)

कष्टसहिष्णुता का महत्त्व

मं भीहि थाहि मण्णहों भवहों।
उवसग्गसहण सूवरण तव हों॥

परलोक की आपदाओं से भयभीत मत हो। उपसर्गों का सहन करना वीरों का ही काम है।

— प. च. 33.8.4

सत्संगति का फल

सयलु वि उत्तिम — पुरिस-पसङ्गे।
णरु हलुवो वि होइ गरुआरउ॥
रुक्खु वि सेलसिहरें वड्डारउ।

उत्तम पुरुष की संगति से छोटे व्यक्ति भी महान् बन जाते हैं। पर्वत की चोटी पर उगा वृक्ष अन्य वृक्षों से ऊँचा होता ही है।

— प. च. 35.3.5-6

स्वयंभू की काव्यकला

– डॉ० प्रेमचन्द्र रांवका

□

भारतीय संस्कृति के पिछले हजार वर्षों के रूप को समझने के लिए मध्यकालीन आर्यभाषाएं एक मात्र नहीं तो सर्वप्रधान साधन अवश्य हैं। अपभ्रंश भाषा के विकास एवं हिन्दी की उत्पत्ति के साथ ही भारतीय संस्कृति एक विशेष दिशा की ओर उन्मुख होती है। भारतीय संस्कृति की जो छाप प्रारम्भ की लोकभाषा-अपभ्रंश/हिन्दी पर पड़ी है, वह इतनी स्पष्ट है कि केवल भाषा के अध्ययन से ही हम संस्कृति के विभिन्न रूपों एवं आयामों का सहज ही अनुमान लगा सकते हैं।

मध्यकालीन (500 ई० पू० से 1000 ई० तक) आर्य भाषाओं (प्राकृत-अपभ्रंश) मे उपलब्ध साहित्य का मूल्य केवल साहित्यिक नही है, वरन् वह हमारे पिछले हजार-डेढ़ हजार वर्षों के सांस्कृतिक, सामाजिक और धार्मिक साधनों के अध्ययन का सबसे बहुमूल्य और सबसे विशाल साधन है। सही तो यह है कि समूचे मध्य-युग के अध्ययन के लिए "देश-भाषा" का साहित्य लोकजीवन का सच्चा और सर्वोत्तम निर्देशक है।[1]

संस्कृत एवं प्राकृत की भांति अपभ्रंश भाषा में भी विशाल परिमाण में जैन साहित्य रचा गया। जैन विद्वानों एवं श्रावकों ने अपभ्रंश साहित्य की रचना एवं सुरक्षा में सर्वाधिक योग दिया है। जैनाचार्यों, सन्तों एवं श्रावकों का भाषा-विशेष से कभी आग्रह नहीं रहा। उन्होंने जन-सामान्य को सम्बोधन की दृष्टि से अपने समय की प्रचलित लोक-भाषा को अपनी रचना-धर्मिता/काव्य-सर्जन का अवलम्बन बनाया। बौद्धों की अपेक्षा वे इस क्षेत्र में अधिक उदार रहे।[2]

प्रायः सभी विद्वान् प्राकृत की अन्तिम अवस्था "अपभ्रंश" से हिन्दी भाषा एव साहित्य का आविर्भाव मानते हैं। 7वीं से 14वीं शताब्दी तक अपभ्रंश में जिस साहित्य का सृजन हुआ उसकी उपेक्षा की जाती रही। इस भाषा का जो साहित्य अब तक मिला है वह अधिकांशत: जैनधर्म से प्रभावित है। जैन कवियों का यद्यपि प्रधान ध्येय अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन रहा, परन्तु इनकी रचनाएं साहित्यिक तत्त्वों से परिपूर्ण हैं।

स्वयंभू, पुष्पदन्त, धनपाल, योगीन्दु, रामसिंह, देवसेन, हेमचन्द्र, सोमप्रभ सूरि आदि इस धारा के प्रमुख कवि हैं, जिन्होंने पुराणों से, अनुश्रुतियों से, अनुभवों से और लोक-कथाओं से आख्यान लेकर अपनी रचना-धर्मिता को पल्लवित किया।

अपभ्रंश के इन कवियों का विस्मरण हमारे लिए हानिकर है। ये ही कवि हिन्दी-काव्य-धारा के प्रथम स्रष्टा थे। उन्होंने काव्य-क्षेत्र में नया सृजन किया, नये चमत्कार, नये भाव, नये छन्द-विन्यास पैदा किये। हिन्दी भाषा के बीज तत्त्व स्वयंभू, पुष्पदन्त, हेमचन्द्र आदि कवियों की रचनाओं मे है।[3]

अपभ्रंश भाषा के सबसे बड़े महाकवि स्वयंभू की खोज डॉ. पी. डी. गुणे ने की थी।[4] उसके बाद मुनिश्री जिनविजय के ध्यान आकृष्ट करने पर श्रद्धेय श्री नाथूराम प्रेमी ने जैन साहित्य समालोचक में इनकी चर्चा की। तत्पश्चात् राहुल सांकृत्यायन ने 1945 में हिन्दी काव्यधारा में स्वयंभू के विषय में ये पंक्तियाँ लिखीं – "हमारे इसी युग मे नहीं, हिन्दी कविता के पांचों युगों के जितने कवियो को हमने यहाँ संगृहीत किया है, उनमे यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि स्वयभू सबसे बड़ा कवि है। वस्तुतः वह भारत के एक दर्जन अमर कवियों में से था। आश्चर्य और क्रोध दोनों होता है कि लोगो ने ऐसे महान् कवि को कैसे भुला देना चाहा।"

भाषा-विज्ञान के आचार्यों ने अपभ्रंश का समय 500 ई० से 1000 ई० तक माना है, परन्तु इसका साहित्य 8वी सदी से मिलना आरम्भ होता है जिसमें सर्वप्रथम स्वयंभू हमारे सामने आते हैं। इनकी चार रचनाएँ मानी जाती हैं – पउमचरिउ, रिट्ठणेमिचरिउ, स्वयंभू-छन्द और पंचमीचरिउ, परन्तु प्रथम तीन रचनाएँ ही उपलब्ध होनी है।[5]

स्वयंभू की कृतियों मे मिले कतिपय उल्लेखो के आधार पर वे कर्नाटक के एक साहित्यिक घराने के पिता मारुत देव और माँ पद्मिनी की सन्तान थे। इनकी दो पत्नियाँ थीं जो साहित्य-साधना में इनकी सहायिका थी। त्रिभुवन इनके पुत्र थे जिन्होंने स्वयंभू की अधूरी कृतियों को पूरा किया। त्रिभुवन ने स्वयंभू को छन्द-चूडामणि, कविराज-चक्रवर्ती बतलाया है। वे अपने समय के उच्च-कोटि के विद्वान् थे। संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश के पूर्ण पण्डित थे। छन्दःशास्त्र, अलंकार, नाट्य, संगीत, व्याकरण, काव्य आदि से पूर्ण अभिज्ञ थे।[6] पुष्पदन्त जैसे परवर्ती कवियों ने इनका बड़े आदर के साथ स्मरण किया है।

पउमचरिउ :– 'पउमचरिउ' की पाण्डुलिपि श्री महावीरजी के जैनविद्या संस्थान में मिलती है।[7] पउमचरिउ की संधियों की पुष्पिकाओं के अनुसार किसी धनंजय नामक व्यक्ति की प्रार्थना पर इसकी रचना हुई। कवि ने विमलसूरि के 'पउमचरिउ' की परम्परा का अनुसरण किया है जिसमें राम-कथा को जैनधर्मानुसार प्रस्तुत किया गया है। यह पाँच कांडों में है। यह एक विचित्र संयोग है कि संस्कृत की तरह अपभ्रंश काव्य भी 'पउमचरिउ' के रूप में राम-कथा से प्रारम्भ हुआ है। राम भारतीय जन-मानस की अभिव्यक्ति का लोकप्रिय साधन रहे हैं। देश में जब भी कोई नया विचार, आयाम, सम्प्रदाय या बोली आई उसने राम-कथा के पट पर ही अपने को अंकित किया। पाँच कांडों –

विद्याधर काण्ड, अयोध्या काण्ड, सुन्दर काण्ड, युद्ध काण्ड और उत्तर काण्ड में विभक्त पउमचरिउ (पद्म चरित) में कुल 90 संधियाँ हैं जो सर्ग की प्रतीक हैं।

रिट्ठणेमिचरिउ :– कृष्ण-नेमि-कथा पर आधारित इस महाकाव्य के यादव, कुरु, युद्ध और उत्तर इन चार काण्डों में कुल 112 संधियाँ हैं। इसकी पाण्डुलिपि बम्बई के ऐलक पन्नालाल सरस्वती भवन एवं भंडारकर ओरियंटल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना में मिलती है। इसकी रचना में 6 वर्ष 3 मास 11 दिन लगे। कवि ने कथा का आधार महाभारत और हरिवंश पुराण को रखा है। परन्तु यथास्थान परिवर्तन भी पर्याप्त मिलते हैं। उदाहरणार्थ, द्रौपदी के स्वयंवर में मत्स्य-वेध की प्रतिज्ञा के स्थान पर केवल धनुष चढ़ाने की प्रतिज्ञा है। इस पर जैनधर्म की अहिंसा का प्रभाव है।[8]

स्वयंभू-छन्द :– इसमें प्राकृत एव अपभ्रंश छन्दों का विचार है जिससे ज्ञात होता है कि स्वयंभू का दोनों भाषाओ पर समान अधिकार था। अपभ्रंश के इस सर्वोच्च "महाकवि स्वयंभू" के उक्त ग्रन्थों के आधार पर ही उनकी काव्य-कला के नैपुण्य पर सक्षेप मे यहाँ स्फुट विचार प्रस्तुत है –

कविवर स्वयंभू अपनी काव्य-रचना का लक्ष्य आत्माभिव्यक्ति को मानते हैं – पुणु अप्पाणउ पायडमि रामायण कावे[9] – इस रामायण काव्य के माध्यम से मैं अपने आपको प्रकट करता हूँ। परवर्ती कवि तुलसी भी रामचरितमानस की रचना "स्वान्तः सुखाय" करते हैं। काव्य कवि की आत्माभिव्यक्ति का साधन है, लौकिकलक्ष्य–यश की प्राप्ति है – काव्यं यशसे। स्वयंभू स्वयं कहते है कि मैं इस निर्मल और पवित्र काव्य-कीर्तन को प्रारम्भ करता हूँ, क्योकि इससे लोक में स्थिर कीर्ति फैलती है –

णिम्मल-पुण्ण-पवित्त-कह कित्तणु आढप्पइ।
जेण समाणिज्जन्तएँण थिर कित्ति विढप्पइ॥ 1.2.12

स्वयंभू की राम-कथा रूपी नदी में देशी बहता हुआ पानी संस्कृत और प्राकृत के बन्ध का अनुबन्ध है –

सक्कय-पायय-पुलिणालंकिय। देसी-भासा-उभय तडुज्जल। 1.2.3–4

अर्थात् यह काव्य (पउमचरिउ) संस्कृत और प्राकृत रूपी पुलिनों से अलंकृत देशी भाषा रूपी दो कूलों से उज्ज्वल है। कवि के आत्म-विनय से यह स्पष्ट है कि वे अपने युग की प्रायः सभी काव्य-रूढ़ियों से परिचित थे।

अपनी लघुता एवं अल्पज्ञता प्रकट करते हुए कवि कहता है कि मेरे सम दूसरा कोई कुकवि नहीं है। – **मइँ सरिसउ अण्णु णाहिं कुकइ।** 1.3.1

मैं संधि, समास, प्रत्याहार, उपसर्ग, प्रत्यय, कारक, अलंकार, वचन, लिंग, धातु, निपात आदि नहीं जानता फिर भी इस काव्य व्यवसाय को नही छोड़ पा रहा हूँ प्रत्युत छन्दोबद्ध काव्य को निबद्ध कर रहा हूँ –

.........**ववसाउ तो वि णउ परिहरमि, वरि रड्डाबद्धु कव्वु करमि।** 1.3.9

"रिट्ठणेमि चरिउ" का प्रारम्भ भी कवि ने इसी भाँति विषय की महत्ता, अपनी अल्पज्ञता का प्रदर्शन करते हुए किया है। जब हरिवंश महानदी को पार करने में कवि चिन्तातुर था, तब सरस्वती ने उसे धैर्य बंधाया और काव्य-रचना की प्रेरणा दी –

चितवइ सयंभु कायं करमि हरिवंस महण्णउ के तरमि।....
....तहि अवसरि सरसइ धीरवइ करि कव्वु दिण्णमइ विमल मइ।[10]

कवि प्रारम्भ में एकाग्र मन से उन गुरु स्वरूप उत्कृष्ट आचार्यों की वन्दना करता है जो काय, वचन और मन से शुद्ध हैं और जो काम, क्रोध और दुर्नयों से तर चुके हैं –

जे काय-वाय-मणें णिच्छिरिय जे काम-कोह-दुण्णय तरिय।
ते एक्कमणेण सयंभुएँण वन्दिय गुरु परमायरिय ॥ 1.1.9

इस प्रकार कवि ने अपने दोनों ही महाकाव्यों की सुन्दर नदी से तुलना करते हुए एक सुन्दर रूपक बाँधा है और तदनन्तर आत्म-विनय एवं लघुता का प्रदर्शन करते हुए काव्य-रचना की भारतीय परम्परा का निर्वाह किया है जिसका निर्वहण परवर्ती कवि जायसी और तुलसी भी करते हैं।

वर्ण्य विषय की दृष्टि से स्वयंभू ने अपने काव्यों में काव्यानुरूप अनेक सुन्दर वर्णन प्रस्तुत किये हैं। वस्तु-वर्णन इतिवृत्तात्मक मात्र नहीं है। वे अनेक स्थलों पर ऐतिहासिक नीरसता से रहित हैं और काव्यगत सरसता से आप्लावित हैं।

ऋतु-वर्णन के अन्तर्गत स्वयंभू ने अनेक ऋतुओं का सजीव वर्णन महाकाव्य के अनुकूल ही किया है। पावस ऋतु में मेघो के प्रसार का वर्णन करता हुआ कवि कहता है जैसे सुकवि का काव्य, अज्ञानी का अंधकार, ज्ञानी का ज्ञान, पापिष्ठ का पाप, धार्मिक का धर्म, निर्धन की चिन्ता, सुकुलीन की कीर्ति, वन में दावाग्नि सहसा फैल जाती है, उसी प्रकार मेघों का विस्तार गगन में सहसा फैल गया –

पसरइ जेम तिमिरु अण्णाणहों, पसरइ जेम बुद्धि बहु-जाणहों।
पसरइ जेम पाउ पाविट्ठहों, पसरइ जेम धम्मु धम्मिट्ठहों।
पसरइ जेम चिंत धण हीणहों, पसरइ जेम कित्ति सुकुलीणहों।
पसरइ सुकइहें कव्वु जिह, मेह-जालु गयणंगणें तावेंहि।
28.1.2-3,5 और प्रारम्भिक 2

पावस राज ने महान् इन्द्रधनुष को हाथ में लेकर मेघरूपी गज पर सवार होकर ग्रीष्मराज पर चढ़ाई करदी। युद्ध-वर्णन का यह रूपक देखते ही बनता है। भाषा भी तदनुकूल ओज गुण से युक्त हो गई है।

धगधगधगधगंतु उद्धाइउ, हसहसहसहसंतु संपाइउ।
जलजलजलजलंतु पचलंतउ, जालावलि-फुलिंग मेल्लंतउ ॥
28.2.4-5

पावस राज ने धनुष का आस्फालन किया तो तड़ित्‌रूप में टंकार ध्वनि प्रकट हुई। मेघगज घटा को प्रेरित किया गया और जल-धारा के रूप में सहसा बाणवर्षा कर दी। युद्ध की इस भीषण भयंकरता का वर्णन कवि ने अनुरणनात्मक शब्दों में किया है –

घणु अप्फालिउ पाउसेण, तडि-टंकार-फार दरिसंतें।
चोऍवि जलहर-हत्थि हड रगीर-सरासरिए मुक्क तुरंतें ॥28.2.9

इसी प्रकार कवि जल-क्रीड़ा वर्णन में सिद्धहस्त है – परस्पर जलक्रीड़ा करते हुए और सघन जल-बिन्दुओं को एक दूसरे पर फैंकते हुए राजा और रानियों के चन्द्र और कुन्द के समान शुभ्र और उज्ज्वल टूटते हुए हारों से कहीं जल धवल हो गया तो कहीं शब्दायमान नुपूरों से युक्त हो गया –

अवरोप्पर जल-कील करंतहुँ, घरण-पारणालि-पहर मेल्लंतहुँ।
कहि मि चन्द-कुंदुज्जल-तारेहिँ, धवलिउ जलु तुट्टंतेहिँ हारेहिँ ॥ 14.6.1-2

इसी प्रकार वसन्त-वर्णन, संध्या-वर्णन, समुद्र-वर्णन, वन-वर्णन, अन्य प्राकृतिक वर्णनों में स्वयंभू की रुचि रही है। विविध उपमानों द्वारा कवि के ये वर्णन स्वाभाविकता लिये हुए हैं। काव्य के उपर्युक्त प्रसंगों के वर्णन में कवि-कर्म का निदर्शन स्पष्ट दिखाई देता है।

स्वयंभू के महाकाव्यों में वस्तु-वर्णन के साथ घटना-बाहुल्य और काव्यगत प्राचुर्य भी मिलता है। पउमचरिउ में राम-कथा से पूर्व सृष्टिवर्णन, जम्बूद्वीप की स्थिति, कुलकरों की उत्पत्ति, अयोध्या में ऋषभ का प्रभाव, इक्ष्वाकु वंश, लंका में देवताओं, विद्याधरों के वंश और तदनंतर राम-कथा का विस्तार से वर्णन मिलता है। इसी प्रकार रिट्ठणेमिचरिउ में कृष्ण-जन्म, कृष्ण-बाल-लीला, कृष्ण-विवाह-कथा, प्रद्युम्न की जन्म-कथा और नेमिनाथ का विस्तार से चरित्र चित्रित हुआ है। इसके साथ ही कौरवों एवं पाण्डवों के जन्म, बाल्यकाल, शिक्षा, उनके परस्पर वैमनस्य, युधिष्ठिर की द्यूतक्रीड़ा और उसमें सब कुछ हारना तथा पाण्डवों को बारह वर्ष का बनवास आदि प्रसंग भी पूरे चित्रित हुए हैं। कौरवों एवं पांडवों के युद्ध का वर्णन सजीव बन पड़ा है जिसमें पाण्डवों की विजय और कौरवों की पराजय का चित्र अंकित है। काव्यगत विषय-विस्तार कम उपलब्ध नहीं है।

वर्ण्य विषय में कवि ने अपनी जिन-भक्ति का प्रभाव नहीं त्यागा है। मेघवाहन और हनुमान के युद्धवर्णन में उनके शूरत्वादि गुणों के साथ दोनों की जिन-भक्ति का भी निर्देश करना वह नहीं भूलता –

बेण्णि वि परम-जिणिवहों भत्ता, बेण्णि वीर वीर भयचत्ता ॥ 53.8.8

इसीप्रकार द्रौपदी के स्वयंवर में कवि ने मत्स्य वेध की प्रतिज्ञा के स्थान पर धनुष चढ़ाने की प्रतिज्ञा भर का ही उल्लेख किया है। वैसे तो समग्र काव्य ही जैन परम्परानुसार रचित है पर इस कारण काव्यत्व की वहाँ कमी नहीं है।

अनेक स्थलों पर कवि की अद्भुत कल्पनाशक्ति के दर्शन होते हैं। विराट् नगर के वर्णन में कवि कहता है कि पाँचों पाण्डव उस नगर में प्रविष्ट हुए जो धवल गृहों से अलंकृत था और ऐसा सुन्दर प्रतीत होता था मानो किसी कारणवश स्वर्ग-खण्ड ही पृथ्वी पर उतर आया हो –

पइट्ठणु पइसरिय जं धवल घरा लंकरियउ।
केण वि कारणेण णं सग्ग खंडु ओयरियउ ॥[11]

रसाभिव्यक्ति :– रसाभिव्यक्ति की दृष्टि से स्वयंभू के काव्यों मे हमें शान्त, वीर, शृंगार, करुण, आदि रस मुख्यत: मिलते हैं। पउमचरिउ एवं रिट्ठणेमिचरिउ में वीर के साथ शृंगार, या शृंगार के साथ वीर रस की अभिव्यक्ति मिल जाती है। सीता एवं द्रौपदी के स्वयंवर, जलक्रीड़ा आदि अवसरो पर ऐसा समन्वय मिल जाता है। जैन परम्परा पर आधृत काव्य होने के नाते संसार की असारता, क्षण-भंगुरता और दु:ख बहुलता के वर्णन में वैराग्य-भावना प्रकट करना कवि का अपना अभीष्ट होता है। ऐसे प्रसंगों पर शान्त रस का परिपाक भली-भाँति देखा जा सकता है। काव्य एवं जीवन का पर्यवसान शान्त रस में दिखाना कवि स्वयभू को इष्ट है।

करुण रस की अभिव्यक्ति स्वयंभू के काव्य में अनेक स्थलो पर मिल जाती है। लक्ष्मण के लिए अयोध्या में अन्त.पुर की स्त्रियाँ ही विलाप नही करतीं – वरन् शोकाकुल होकर सभी रोने लगते हैं – मानों दबा-दबा कर सर्वत्र शोक भर दिया गया हो। रोती हुई लक्ष्मण की माता ने सब जनों को रुला दिया – ऐसे कारुण्यपूर्ण काव्य से किसके आँसू नही आते ! इस हृदयविदारक दृश्य का वर्णन स्वयं कवि के शब्दों में पढ़िये –

दुक्खाउरु रोवइ सयलु लोउ, णं चप्पें वि चप्पेंवि भरिउ सोउ।
रोवइ भिच्चयणु समुद्ध-हत्थु, णं कमल-संडु हिम-पवण-घत्थु।

× × × ×

रोवंतिएँ लक्खण-मायरिएँ, सयलु लोउ रोवावियउ।
कारुण्णएँ कव्व-कहाएँ जिह, को व ण अंसु मुआवियउ।। 69.13.2,3,9

रावण के लिए मन्दोदरी का विलाप भी इसी प्रकार करुण रस से परिपूरित है। मन्दोदरी विलाप करती हुई विगत शृंगारिक घटनाओं का स्मरण कर और भी अधिक व्याकुल हो उठती है। रिठ्ठणेमिचरिउ में नेमिनाथ के विवाह मे पशुओं का क्रन्दन किसके हृदय को द्रवीभूत नही कर देता ! नेमिनाथ के बरात से ही बिना विवाह किये लौट जाने और गिरनार पर्वत पर जिन-दीक्षा लेने पर राजुल के हृदय की वेदना भी कम शोचनीय नहीं है। स्त्रियाँ ही नही, पुरुष भी स्त्रियों के लिए व्याकुल होते हैं। पवनंजय अंजना सुन्दरी के लिए और राम सीता के लिए उसी तरह विलाप करते हैं। पवनंजय जंगल के पेड़-पौधों व जीव-जन्तुओं से पूछने लगा – अरे सरोवर, क्या तुमने रक्तकमल की तरह चरणोंवाली मेरी धन्या देखी ? हे हंसराज, क्या तुमने उस हंसगामिनी को देखा ? अरे अशोक, वह किसलय जैसे हाथोंवाली कहाँ है ?····इसप्रकार विलखते घूमते हुए उसे वट का पेड़ उसी तरह दिखायी दिया, जिस तरह दीक्षा लेते समय ऋषभ जिन को दिखायी दिया था –

पवणञ्जओ वि पडिवक्ख-खउ, काणणु पइसरइ विसाय-रउ।
पुच्छइ "अहों सरवर, दिट्ठ धण, रत्तुप्पल-दल-कोमल-चलण।
अहों रायहंस, हंसाहिवइ, कहें कहि मि दिट्ठ जइ हंस गइ।।

× × × ×

एम भमंते विउलें वणें णग्गोह-महादुमु दिट्ठु किह।
सासय-पुर-परमेसरेंण णिक्खवणें पयागु जिणेंण जिह।। 19.13.2-4,10

लक्ष्मण के लिए विलाप करते हुए राम की दशा भी करुणाजनक है। वे सब प्रकार के संकटों को सहने में तत्पर हैं, किन्तु भ्रातृ-वियोग उनके लिए असह्य है –

एाटि सरय दुक्खु आयामिउ, एाउ विछुड़ भाइहिं तएाउ ।।

भरत भी लक्ष्मण के आहत हो जाने पर अत्यधिक व्याकुल होते है। उनकी दृष्टि में लक्ष्मण के बिना आज पृथ्वी भर्तृ-विरहिता नारी सदृश अनाथ हो गई है –

हा पइँ सोमित्ति मरंतएँण मरइ णिरुत्तउ दासरहि ।
भत्तार-विहूणिय णारि जिह, अज्जु अणाहीहूय महि ।। 69.10.9

शान्त रस :– जैन काव्यों की यह अपनी विशेषता रही है कि इनका पर्यवसान शान्त रस में होता है। संसार की असारता, क्षणभंगुरता, अनित्यता, नश्वरता और दुःख-बहुलता बताकर संसार के मिथ्यात्व का उपदेश देते हुए कवि प्राणिमात्र को आत्म-कल्याण के लिए उपदेश देकर संसार से विरक्ति पैदा करता है। ऐसे निर्वेदजन्य भावों के स्थलों पर ही शान्त रस झलकता है। इस दृष्टि से ''पउमचरिउ'' अपवाद ग्रन्थ नही है। स्वयंभू अनेक स्थलों पर वर्णन प्रसंगों मे यथास्थान अपने पात्रों के माध्यम से पाठकों को सम्बोधित करते हैं। विरहानल ज्वाला से ज्वलित और विषाद-युक्त मन वाले राम सोचने लगे – ''सत्य ही संसार में कही सुख नहीं। मेरु पर्वत सदृश दुःख समुदाय है। जन्म-मरण का भय सदा ही लगा रहता है। जीवन जलबिन्दु के समान है। कहाँ घर, कहाँ परिजन, कहाँ बंधु-बांधव, कहाँ माता-पिता, कहाँ हितैषी स्वजन, कहाँ पुत्र मित्र, कहाँ गृहिणी, कहाँ सहोदर, कहाँ बहिन ? जब तक सम्पत्ति है, तभी तक बंधु स्वजन हैं। ये सब वृक्ष पर पक्षियों के वास के समान अस्थिर है।

विरहाणल-जाल-पलित्त-तणु, चिंतेवएँ लग्गु विसण्णमणु ।
सच्चउ संसारें ण अत्थि सुहु, सच्चउ गिरि-मेरु-समाण दुहु ।
सच्चउ जर-जम्मण-मरणभउ, सच्चउ जीविउ जल-बिंदु-सउ ।
कहों घरु कहो परियणु-बधु-जणु, कहों माय-वप्पु कहों सुहि सयणु ।
कहों पुत्तु मित्तु कहों किर घरिणि, कहों भाय सहोयर कहो बहिणि ।
फलु जाव ताव बंधव सयण, आवासिय पायवि जिह सउण ।। 39.11.1–6

शृंगार रस :– शृंगार का कवि ने संयत वर्णन किया है। वह उद्दाम वासनाजन्य दशा को नहीं पहुँचा है। सीता एवं मन्दोदरी के सौन्दर्य वर्णन में कवि ने परम्परागत उपमानों का ही प्रयोग किया है।

थिर कलहंस गमण गइ मंथर, किस मज्झारें णियंबे सुवित्थर ।
रोमावलि मयरहरु-तिण्णी, णं पिप्पिलि-रिंछोलि विलिण्णी । 38.3.3-4

इस वर्णन में कलहंसगमना, कृशमध्या, विशालनितंबा आदि विशेषण परम्परा-युक्त हैं। मुख को कमल से, पीठ पर लहराती वेणी को चंदनलता पर लिपटी नागिनी से, रोमावली को पिपीलिका पंक्ति (सीता) और काली नागिन (मन्दोदरी) से उपमा देकर कवि ने लौकिक निरीक्षण पटुता का परिचय दिया है। मन्दोदरी के रूप-चित्रण में नासिका के लिए जो उपमान प्रस्तुत किया है वह अन्यत्र नहीं मिलता है। सुगन्ध का अनुभव करने-वाली मन्दोदरी की नाक ऐसी दिखायी देती थी मानो नेत्र जल के लिए सेतुबन्ध ही हो।

दीसइ सुरणासु भणुहुम-सुगन्धु, रणं रणयरणजलहों किउ सेउबन्धु । 10.3.7

यहाँ परम्परागत उपमान नासिका को शुक नासिका से हटकर नया उपमान प्रस्तुत किया गया है । यह कविकर्म का अपना नैपुण्य है ।

शृंगार के संयोग एवं वियोग दोनों प्रकारों के चित्रण स्वयंभू के काव्य में मिलते हैं । पवनंजय विवाह प्रकरण में ये दोनों भाव देखे जा सकते हैं । एक ओर दोनों एक दूसरे के बिना काम-विह्वल हो विरह-पीड़ा से दुःखी होते हैं, शरीर कुम्हला जाता है, दीर्घ श्वासें लेते हैं, सुखदायी वस्तुएँ भी दुःखदायिनी बन जाती हैं, तो दूसरी ओर उनके परस्पर दर्शन एवं मिलन के आनन्द का पारावार नहीं । मीठी वाणी में विनयालाप कर खूब आनन्द और सुख परस्पर प्रदान करते हैं । हाथ में हाथ लेकर वे दोनों पलंग पर चढ़ गये और हास-परिहास के साथ रमण करने लगे । एक दूसरे को वेगपूर्वक अपनी भुजाओं में आलिंगन देते हुए, वियोग की बात न जानते हुए, वे दोनों एक प्राण हो गये – स्वयं कवि के शब्दों में पढ़िये –

महुरक्खर विणयालाव दिन्नु, आणन्दु सोक्खु सोहग्गु दिन्नु ।
पल्लंके चडिउ करें लेवि वेवि, विहसन्त रमन्तइं थियइँ वे वि ।।
स इँ भु वहिं परोप्पर दिन्ताइँ सरहसु आलिंगणु दिन्ताइं ।
णी सन्धि गुणेण ण णायाइँ वोण्णि वि एक्कं पिव जायाइँ ।। 18.12.7-9

संयोग शृंगार के इस चित्रण को कवि ने उच्छृंखल नहीं बनाया है । यहाँ शील एवं संयम की मर्यादा रखी है । रिट्ठणेमि चरिउ में – कृष्ण-सत्यभामा – रुक्मिणी प्रेम प्रसंग में भी ऐसा ही संयत वर्णन है ।

प्रकृति-वर्णन :– स्वयंभू का प्रकृति-वर्णन प्राचीन परम्परा को लिये हुए है जिसका निर्देश ऋतु-वर्णन के पावस-वर्णन के प्रसंग में पूर्व में किया जा चुका है । कवि ने अलंकारों के लिए प्रकृति वर्णन को अपनाया है –

णव-फल परिपक्काणणे काणणें । कुसुमिए साहारएँ साहारएँ । 71.1.3

मगध देश के वर्णन में कवि का कथन है कि वहाँ वृक्षों पर बैठी शुक पंक्ति वनश्री के कंठ में मरकत-माला के समान प्रतीत होती है । इस प्रकार के वर्णन में अलंकारप्रियता के साथ-साथ कवि की सूक्ष्म निरीक्षण-शक्ति और परम्परा से उठकर लोक-दर्शन की भावना भी अभिव्यक्त होती है । स्वयंभू ने प्रकृति के उक्त आलम्बन रूप के साथ उद्दीपन रूप का भी वर्णन किया है । पवनंजय का अंजना के प्रति प्रगाढ़ प्रेम एवं मिलन भाव का उत्पन्न होना इसका श्रेष्ठ उदाहरण है । वह चातकी के विरह को देख अपनी प्रिया का स्मरण करता है । एक अन्य स्थान पर कवि ने नदी के प्रियतम से मिलने के लिए जाती हुई साज-सज्जा युक्त एक स्त्री के रूप में वर्णन किया है, जहाँ नर्मदा के शब्द करते हुए जल-प्रवाह नूपुर-झंकार के सदृश हैं । दोनों सुन्दर पुलिन उपरितन वस्त्र के सदृश हैं । स्खलित और उच्छलित जल रशनादाम की भ्रान्ति को उत्पन्न करता है, उसके आवर्त शरीर की त्रिवलि के सदृश हैं । उसमें जलहस्तियों के सजल गण्डस्थल अर्धोन्मीलित स्तनों के समान हैं । आंदोलित फेन पुंज लहराते हार के समान प्रतीत होता है ।

भाषा :– इस दृष्टि से स्वयंभू ने अपने काव्यों में साहित्यिक अपभ्रंश का प्रयोग किया है। स्थान-स्थान पर अलंकारों के प्रयोग से भाषा अलंकृत हुई है। अलंकारों के प्रयोग में उपमान कहीं प्रकृति के प्रांगण से लिये गये हैं तो कहीं धार्मिक भाव-भूमि से –

सहुं दुमय, सुयाए कोक्काविय ते वि पइट्ठा।
जीव दया ए सहिय परिमेट्ठि पंच णं विट्ठा॥

रिट्ठणेमिचरिउ 285

अर्थात्–द्रूपदसुता के साथ आहूत वे पाँचों पाण्डव ऐसे प्रविष्ट हुए जैसे जीव-दया के साथ पंचपरमेष्ठी प्रविष्ट हुए हों। अलंकारों में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, दृष्टान्त, अपह्नुति, यमक, श्लेष, तद्गुण, अनुप्रास आदि का प्रयोग अधिक मिलता है। भावानुकूल शब्द-योजना में कवि ने विशेष ध्यान रखा है। युद्धवर्णन में यदि कठोर वर्णों का प्रयोग है तो शृंगार आदि में सुकुमार शब्दों का, गौडी, वैदर्भी एवं पांचाली रीतियों, ओज, प्रसाद एवं माधुर्य आदि गुणों से इनके काव्य अलंकृत हैं। कवि की भाषा प्रसाद गुण से ओत-प्रोत है, यद्यपि उसने बाण से समासबहुला भाषा ग्रहण की है।

शैली :– स्वयंभू काव्य में शैली के विविध रूपों में दर्शन होते हैं। उनकी शैली विषय और भाव की चेरी बनकर परिवर्तित हुई है। वर्णनों की प्रधानता जहाँ है वहाँ शैली ने इतिवृत्तात्मक रूप लिया है और जहाँ भावों में गहनता है या हृदय की मार्मिक अनुभूतियों का प्रकाशन करना उन्हें अभीष्ट है, वहाँ उनकी शैली भावात्मक बन पड़ी है। जैसे –

जहिं पहु दुच्चरिउ समायरइ तहिं जणु सामण्णु कारं करइ।

– अर्थात् जहाँ प्रभु दुश्चरित समाचरण करेगा वहाँ सामान्य-जन क्या करेगा ?

स्वयंभू काव्य में सूक्तियों का प्रयोग भी मिलता है। जैसे –

वरि सुसई समुद्दु वरि मंदरो णमेइ।
ण वि सव्वण्हु भासियं अण्णहा हवेइ॥ रिट्ठणेमिचरिउ 103.15

– अर्थात् चाहे समुद्र सुख जाये, मंदर (मंदराचल) झुक जाये परन्तु सर्वज्ञ का कथन अन्यथा नहीं हो सकता।

उस खल की अभ्यर्थना से क्या जिसे कुछ भी अच्छा नहीं लगता ? क्या राहु कांपते हुए पूर्णिमा के चन्द्रमा को छोड़ देता है –

पिसुणें किं अब्भत्थिएँण जसु को वि ण रुच्चइ।
किं छण चन्दु महागहेण कम्पन्तु वि मुच्चइ॥ 1.3.14

छन्द :– स्वयंभू-काव्य में अपभ्रंश के प्रायः अपने समकालीन सभी छन्दों का प्रयोग मिलता है। घत्ता छन्द दोहों के समान प्रयुक्त हुआ है। गन्धोदकधारा, द्विपदी, मंजरी, पद्धड़िका, पारणक, भुजंगप्रयात, मत्तमातंग, नाराचक, हेला, विलासिनी, प्रमाणिका, समानिका, वदनक आदि छन्दों का प्रयोग मिलता है।

स्वयंभू के पुत्र एवं प्रिय शिष्य त्रिभुवन ने स्वयंभू को छन्दचूड़ामणि, कविराज-चक्रवर्ती आदि से सम्बोधित किया है। त्रिभुवन ने कवि की अधूरी कृतियों को पूरा किया

श्रौर उनमें कुछ संधियाँ जोड़ीं। स्वयंभू के ग्रन्थों से श्रौर इनकी प्रख्याति से ज्ञात होता है कि वे अपने युग के अद्भुत विद्वान् कवि थे। अपनी प्रतिभा एवं कवित्व-शक्ति के कारण ही इन्होंने कविराजचक्रवर्ती जैसी उपाधियां प्राप्त की। रिट्ठणेमिचरिउ और पउमचरिउ में निर्दिष्ट कवियों और अलंकार-वर्णनों के प्रसंग से ज्ञात होता है कि वे छन्दःशास्त्र, अलंकार, नाट्य, संगीत, व्याकरण, काव्य एवं नाटकादि से पूर्ण अभिज्ञ थे। पउमचरिउ में वे कहते हैं –

"यह राम कथा रूपी नदी, भगवान् महावीर के मुखपर्वत से निकलकर क्रम से बहती हुई दूर से चली आ रही है। यह अक्षर-विन्यास के जल-समूह से मनोहर, सुन्दर अलंकार तथा छन्द रूपी मत्स्यों से परिपूर्ण और लम्बे समास रूपी प्रवाह से अंकित है। यह संस्कृत और प्राकृत रूपी पुलिनों से अलंकृत देशी भाषा रूपी दो कूलों से उज्ज्वल है। इसमें कहीं कठोर और घन शब्द रूपी शिलातल हैं, कहीं यह अनेक अर्थरूपी तरंगों से ग्रस्त-व्यस्त सी हो गई है और कही यह सैकड़ों आश्वास रूपी तीर्थों से प्रतिष्ठित है।" 11.1.2

यह उल्लेख कविवर स्वयंभू की उत्कृष्ट काव्यकलान्तर्गत उनके कविकर्म-कौशल के नितान्त प्रखर परिचायकत्व के रूप में पर्याप्त है। उनकी राम-कथा रूपी नदी मे देशी भाषा रूपी पानी के प्रवाह के साथ संस्कृत और प्राकृत के बन्ध का अनुबन्ध भी है। उनकी उक्त आत्म-विनय से स्पष्ट है कि वे अपने युग की प्रायः सभी काव्य-परम्पराओं से परिचित थे। उन्होंने स्वयं बाण, नागानन्दकार श्री हर्ष, भामह, दंडी, रविषेणाचार्य की रामकथा का उल्लेख किया है। पुष्पदन्त ने स्वयंभू का उल्लेख किया है। स्वयंभू की ही तरह तुलसी ने भी अपनी राम-कथा को सरिता के रूप में वर्णन किया है। मानस की दोहा-चौपाई शैली स्वयंभू की कड़वक शैली के समान है। निश्चित ही जायसी तथा तुलसी स्वयंभू से प्रभावित थे। मानस एव पद्मावत मे भाषा के कवियों का स्मरण किया गया है। तुलसी के 'नाना पुराण-निगमागमसमतं यत् रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि' इसमे अन्यतोऽपि से राहुल सांकृत्यायन ने स्वयंभू की रामायण की ओर ही सकेत किया है।[12] इससे लगता है कि ये परवर्ती कवियो मे आदर से स्मरण किये जाते रहे हैं।

स्वयभू के काव्य में कथा-प्रसंगों की मार्मिकता, चरित्र-चित्रण की पटुता, प्रकृति-वर्णन की उत्कृष्टता और आलकारिक तथा हृदयस्पर्शी उक्तियों की प्रचुरता है। इनकी राज-स्तुतियां तो ज्यों की त्यों आदिकाल की प्रमुखतम प्रवृत्ति ही बन गई हैं। हिन्दी-काव्य-धारा में राहुल सांकृत्यायन ने स्वयंभू की कविता की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। उनके अनुसार स्वयंभू काव्य मे परवर्ती भाषा-काव्य की अनेक प्रवृत्तियों का बीजारोपण मिलता है।

भारतीय वाङ्मय के लोकभाषा काव्य में स्वयंभू सर्वोत्कृष्ट कवि सिद्ध होते हैं। संस्कृत वाङ्मय की भांति अपभ्रंश साहित्य का प्रारम्भ भी रामकथा से करके स्वयंभू लोक-भाषा के वाल्मीकि बन गये हैं। अपने 400-500 वर्ष पूर्ववर्ती, प्राकृत में रामचरित के गायक विमलसूरि से स्वयंभू में अपेक्षाकृत अधिक साहित्यिकता एवं उदारता विद्यमान है। उनके 1000 वर्ष पश्चाद्वर्ती तुलसी रामकथा के समर्थ भाषा कवि हुए। यद्यपि इन दोनों महाकवियों की विषय-वस्तु, भाषा और दार्शनिक मान्यता में पर्याप्त अन्तर है, परन्तु

समानताएं भी हैं। दोनों अपने-अपने युग की भाषा में लिखते हैं। दोनों ने राम-कथा पर महाकाव्य लिखा है। दोनों की शैली (दोहा, चौपाई, घत्ता, छप्पय, पद्धड़िया) में समानता है। दोनों मे पौराणिकता है। अपनी-अपनी दार्शनिक परिसीमा मे दोनों की दृष्टि उदार है। एक में राम जिन-भक्त हैं, दूसरे में शिव-भक्त। एक उन्हें मोक्षगामी मानता है, दूसरा विशिष्टाद्वैत का प्रतीक। एक में राम साधारण मानवता से पूर्ण विकास की ओर बढ़ते है, दूसरे मे परमात्मा राम मनुष्य का अवतार ग्रहण करते हैं। स्वयंभू ने जिन और शिव की अभिन्नता दिखायी है और तुलसी राम शिव की अभिन्नता दिखाते हैं।[13] स्वयंभू की भांति तुलसी ने भी राम-कथा को सरिता का रूप प्रदान किया है।

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि कविवर स्वयंभू एक ओर काव्य और आगम में पारंगत थे तो दूसरी ओर उन्हें लोकानुभव भी था। इस दृष्टि से उनकी काव्य-कला प्रौढ़ता, भक्ति की तन्मयता और सरसता तीनों को अपने में समाविष्ट करती है। प्रबन्ध-कौशल के साथ प्रकृति-चित्रण मे वे सिद्धहस्त है। उनकी कथा अलंकारों के मध्य विराजती है तो सूक्तियाँ जीवन के गम्भीर चिन्तन, मनन और सम्बोधन को आधार प्रदान करती हैं।

वस्तुतः स्वनामधन्य स्वयंभू भारतीय वाङ्मय के उन सौभाग्यशाली महाकवियों मे से हैं जिनको अपने जीवन-काल मे ही यश की उपलब्धि हो गयी थी। वे सत्यतः अपने युग के प्रतिनिधि महाकवि थे। भाव, भाषा, वस्तु-विधान सभी दृष्टियों से उनकी काव्य-कला का चूड़ान्त निदर्शन परवर्ती कवियो को प्राप्त हुआ है। माँ भारती की आरती करनेवाले स्व-पर हितैषी स्वयभू जैसे लोकप्रिय कवियों के लिए ही यह कहा जाता है –

धन्याः सुरसाः रससिद्धाः कवीश्वराः।
नास्ति येषां यशःकाये जरा-मरणजं भयम् ॥
धन्य सुरस के रसिक कवि, तिन सुकृति जग माँहि।
जिनके यश के काय में, जरा-मरणज भय नाँहि ॥

---

1 मध्यकालीन भारतीय संस्कृति और हिन्दी : डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी
2 हिन्दी साहित्य की भूमिका : डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी
3 हिन्दी काव्यधारा : राहुल सांकृत्यायन
4 पउमचरिउ : अनुवादक : देवेन्द्रकुमार जैन, भूमिका
5 अपभ्रंश महाकाव्य : डॉ० हरिवंश कोछर, पृ० 52
6 रिट्ठणेमि चरिउ 1,2
7 प्रशस्ति संग्रह : सम्पादक डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल
8 प्राकृत एवं अपभ्रंश साहित्य : डॉ० रामसिंह तोमर
9 पउमचरिउ : अनुवादक : देवेन्द्रकुमार जैन
10 रिट्ठणेमि चरिउ 1,2
11 रिट्ठणेमिचरिउ 28,4
12 हिन्दी काव्यधारा, भूमिका पृ० 52
13 पउमचरिउ : देवेन्द्रकुमार की भूमिका

संसार की अनित्यता

को कासु सव्वु मायातिमिरु ।
जलबिन्दुजेम जीविउ अथिरु ।। ५ ।।
सम्पत्ति समुद्द – तरङ्ग – णिह ।
सिय चञ्चल विज्जुल लेह जिह ।। ६ ।।
जोव्वणु गिरि-णइ-पवाद-सरिसु ।
पेम्मु वि सुविणय दंसण-सरिसु ।। ७ ।।
धणु सुर-धणु-रिद्धिहें अणुहरइ ।
खणे होइ खणद्धें ओसरइ ।। ८ ।।
झिज्जइ सरीरु आउसु गलइ ।
जिह गउ जलणिवहु ण संभवइ ।। ९ ।।
घत्ता—घरु परियणु रज्जु सम्पय जीविउ सिय पवर ।
एयइँ अथिराइँ एक्कु मुएप्पिणु धम्मु पर ।।१०।।

अर्थ – इस संसार में कौन किसका है ? सब माया का अन्धकार है। जीवन पानी की बूंद की भांति अस्थिर है ।।५।। सम्पत्ति समुद्र की लहरों की तरह और लक्ष्मी विद्युत्रेखा की भांति चञ्चला हैं ।।६।। यौवन पहाड़ी नदी के प्रवाह और प्रेम स्वप्न-दर्शन के समान क्षणभंगुर हैं ।।७।। धन इन्द्रधनुष का अनुसरण करता है, क्षण में प्रकट होता है और क्षणभर में नष्ट हो जाता है ।।८।। शरीर छीज रहा है और आयु गल रही है। गये हुए जल समूह की भांति ये पुनः प्राप्त नहीं होते ।।९।। घर, परिजन, राज्य, सम्पदा, जीवन और अटूट लक्ष्मी ये सब अस्थिर हैं। मात्र एक धर्म ही स्थिर है।

– प. च. 54.5

स्वयंभू में प्रयुक्त अलंकार

— डॉ० योगेन्द्रनाथ शर्मा 'अरुण'

☐

अपभ्रंश के "वाल्मीकि" कहे जानेवाले महाकवि स्वयंभू देव को महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य का "सर्वोच्च कवि" घोषित करते हुए कहा है – "हमारे इसी युग मे नही, हिन्दी कविता के पाँचों युगों के जितने कवियों को हमने यहाँ संग्रहीत किया है, यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि उनमें स्वयंभू सबसे बड़ा कवि था। वस्तुत· वह भारत के एक दर्जन अमर कवियों में से एक था। आश्चर्य और क्षोभ दोनों होता है कि लोगो ने कैसे ऐसे महान् कवि को भुला देना चाहा।"[1]

यह तथ्य आज सर्वमान्य हो चुका है कि संस्कृत-साहित्य में आदिकवि वाल्मीकि से आरम्भ हुई "रामकथा-परम्परा" को प्राकृत में महाकवि विमलसूरि ने और अपभ्रंश में महाकवि स्वयभू ने सींचकर हिन्दी को सौंपा है। "पउमचरिउ" के शिल्प का प्रभाव अनेक विद्वान् शोधकर्त्ताओं ने महाकवि तुलसीदास के "रामचरित मानस" पर सोदाहरण सिद्ध किया है। वस्तुत: स्वयंभू ने जब अपभ्रंश मे साहित्य-सृजन आरम्भ किया, तब उनके समक्ष अपभ्रंश भाषा के किसी प्रसिद्ध रचनाकार का आदर्श विद्यमान नहीं था। कुछ छुट-पुट रचनाओं के होने का साक्ष्य "स्वयंभू छन्द" में संगृहीत उद्धरणों से अवश्य मिलता है, किन्तु प्रबन्ध-कवि के रूप मे तो महाकवि स्वयंभू निश्चय ही इस भाषा के "आदिकवि" सिद्ध होते हैं।

लोकभाषा में संप्रेषण की अनूठी शक्ति को लोकनायक महात्मा बुद्ध एवं वर्द्धमान महावीर ने स्वीकार किया, यह सर्वमान्य तथ्य है। अपभ्रंश के आदि कवि स्वयंभू ने भी स्वयं को "सामण्ण भास" (लोकभाषा) का कवि कहना गौरव की बात समझी है –

"सामण्ण भास छुडु सावडउ। छुडु आगम-जुत्ति कावि घडउ ।।
छुडु होन्तु सुहासिय-वयणाइं। गामिल्ल-भास-परिहरणाइं ।।"[2]

"लोकभाषा" के अप्रतिम महाकवि स्वयंभू की प्रबंध-कृतियों में दो सर्वाधिक प्रसिद्ध हुई हैं – (1) "पउमचरिउ" (पद्म चरित) एवं (2) "रिट्ठणेमि चरिउ (अरिष्टनेमि चरित), इनमें क्रमश: राम एवं अरिष्टनेमि की कथाएँ लेकर स्वयंभू देव ने अपनी विलक्षण काव्य-प्रतिभा का दर्शन कराया है। स्वयंभू ने जैनदर्शन, धर्म एवं संस्कृति को इन कथाओं के माध्यम से अभिव्यक्ति दी है।[3]

जैनत्व को रामकथा एवं अरिष्टनेमिकथा के माध्यम से प्रतिष्ठित करनेवाले महाकवि स्वयंभू ने विषयवस्तु की दृष्टि से अनेकानेक मौलिक एवं विलक्षण उद्भावनाएँ देकर जितनी प्रशंसा प्राप्त की है, उससे कहीं अधिक प्रसिद्धि स्वयंभूदेव को अपने काव्य-शिल्प की उत्कृष्टता, नवीनता एवं संप्रेषण-क्षमता के कारण मिली है। भाषा की कसावट, प्रभावोत्पादकता, लाक्षणिकता एवं चित्रात्मकता के साथ-साथ "अलंकार-प्रयोग" की जो विशिष्ट क्षमता हम कवि स्वयंभू के काव्य-शिल्प में पाते हैं, वैसी अन्यत्र सहज ही हमे उपलब्ध नहीं हो पाती। शिल्प-पक्ष की उत्कृष्टता का एक मानक है – "अलंकार" जिसके विषय में महाकवि स्वयंभू अपने विशद ज्ञान की सूचना नितान्त आलकारिक शैली मे ही देते हैं, जब वे कहते हैं कि "पिंगल-शास्त्र के प्रस्तार को मैं नहीं जानता, न ही मैं "दण्डी" और "भामह" के अलंकार को ही समझता हूँ।" –

"णउ बुज्झिउ पिंगल-पत्थारु।
णउ भम्मह-दण्डि-अलंकारु ।।"[4]

वस्तुत: "अलंकार" काव्योत्कर्ष का एक अनिवार्य साधन है – "अलंकरोति इति अलंकार:" से यही ध्वनित होता है। कवि की प्रतिभा का कौशल इस बात से स्पष्ट होता है कि वह अपनी रचनाओं में अलंकारों का प्रयोग कितना और कैसा करता है। जितना ही अधिक कोई कवि अलंकारों का सहज और अकृत्रिम प्रयोग करता है, उतनी ही उसकी कविता शृंगारमण्डित होती है।

महाकवि स्वयभू ने प्राकृत के महाकवि विमलसूरि के "पउमचरियं" के आधार पर पद्मपुराण की रचना करनेवाले आचार्य रविषेण की परम्परा[5] का उल्लेख तो किया ही है, साथ ही संस्कृत-काव्य में अलंकार-प्रयोग की सुदीर्घ परम्परा का ज्ञान भी उन्हें रहा होगा, यह भी सुनिश्चित है। सिद्धहस्त कवि की कविता में यों तो अलंकार सहज रूप से ही आ जाते हैं, फिर भी, कभी-कभी कवि को प्रयत्न करके अपनी कविता को अलंकारों से सज्जित करना पड़ता है। इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय बात यह है कि कोई-कोई अलंकार किसी कवि को इतना अधिक "प्रिय" हो जाता है कि वह उसकी "पहचान का माध्यम" बन जाता है। "उपमा कालिदासस्य" की उक्ति के मूल मे महाकवि कालिदास की "उपमा", प्रियता ही तो है। मैं नि:संकोच कहना चाहूँगा कि स्वयंभू की पहचान का सशक्त माध्यम है – "उत्प्रेक्षा", जिसके आधार पर मैं कहूँगा – "उत्प्रेक्षा स्वयंभुव:"। स्वयंभू तो "उत्प्रेक्षा – सम्राट्" कहे जा सकते हैं।

स्वयंभू में प्रयुक्त अलंकारों का विवेचन करने से पूर्व मैं यह आवश्यक समझता हूँ कि "उत्प्रेक्षा" को जो गरिमा स्वयंभू ने दी है, उसकी एक झलक अपने सुविज्ञ पाठकों को

देता चलूं। वास्तविकता तो यह है कि "पउमचरिउ" की कोई संधि या कड़वक ऐसा नहीं है, जहाँ उत्प्रेक्षा अलंकार प्रयुक्त न हुआ हो, फिर भी मैं दो-तीन ऐसे स्थल यहाँ उद्धृत करूँगा, जिन्हें "उत्प्रेक्षा" से गरिमा मिली है –

> दीसइ तेण वि सहसत्ति बाल। णं भसलें अहिणव-कुसुम-माल ।।
> दीसन्ति-चलण-णेउर रसन्त। णं महुर-राव बन्दिण पढन्त ।।
> दीसइ णियम्बु मेहल-समग्गु। णं कामएव-अत्थाण-मग्गु ।।
> दीसइ रोमावलि छुडु चडन्ति। णं कसण-बाल-सप्पिणि ललन्ति ।।
> दीसन्ति सिहिण उवसोह दन्त। णं उरयलु भिन्देवि हत्थि-दन्त ।।[6]

उक्त प्रसंग रावण द्वारा सौन्दर्यमण्डिता मन्दोदरी के "प्रथम दर्शन" का है, जिसे उत्प्रेक्षाओं की झड़ी लगाकर स्वयंभू ने गरिमा दे दी है।

"पउमचरिउ" की तेरहवीं संधि से एक अन्य प्रसंग मैं लेना चाहूँगा, जिसमें उत्प्रेक्षाओं का दायरा इतना विस्तृत हो गया है कि उसमें धर्म, दर्शन, समाज, नीति एवं मौसम आदि को कवि ने समाहित करके महर्षि बाली के तप की महत्ता प्रदर्शित की है –

> महरिसि-तव-तेएं थिउ विमाणु। णं दुक्किय-कम्म-वसेण दाणु ।।
> णं सुक्कें खीलिउ मेह-जालु। णं पाउसेण कोइल-वमालु ।।
> णं दूसामिएँण कुडुम्ब-वित्तु। णं मच्छें धरिउ महागवत्तु ।।
> णं कंचण-सेलें पवण-गमणु। णं वाण-पहावें णीय-भवणु ।।
> णीसद्दउ हूयउ किंकिणीउ। णं सुरएँ समत्तएँ कामिणीउ ।।
> घरघरें हि मि घवघव-घोसु चत्तु। णं णिभयालु ववुरहुँ पत्तु ।।[7]

एक प्रसंग "युद्ध की प्रलयंकारी विभीषिका" से भी दर्शनीय है, जहाँ कवि ऐसी उत्प्रेक्षाएँ चुनता है, जो प्रसगानुकूल और सहज हैं –

> जं विणिहय हत्थ-पहत्थ वे वि। थिउ रावणु मुहें कर-कमलु देवि ।।
> णं मत्त-महागउ गय-विसाणु। णं वासरे तेय-विहीणु भाणु ।।
> णं णी-ससि-सूरउ गयण-मग्गु। णं इन्द-पडिन्द-विमुक्कु सग्गु ।।
> णं मुणिवरु इह-पर-लोय-चुक्कु। णं कुकइ-कव्वु लक्खण-विमुक्कु ।।[8]

अर्थात् जब हस्त-प्रहस्त मारे गये, तो रावण माथे पर हाथ रखकर बैठ गया, मानो दन्तहीन कोई महागज बैठा हो या मानो दिन में तेज विहीन सूर्य हो, मानो सूर्य-चन्द्र से आकाश विहीन हो, मानो इन्द्र-प्रतीन्द्र से स्वर्ग विहीन हो, मानो मुनिवर इहलोक तथा परलोक विहीन हो, मानो कुकवि का काव्य लक्षणहीन हो।"

उक्त उद्धरणों से यह सहज ही स्पष्ट हो जाता है कि स्वयंभूदेव "उत्प्रेक्षा" के क्षेत्र में निःसंदेह अप्रतिम रहे हैं।

यह सर्वविदित ही है कि आचार्यों ने मुख्यतः "शब्दालंकार" एवं "अर्थालंकार" के रूप में अलंकारों को बाँटा है। मैं भी यहाँ इन्हीं शीर्षकों में बाँटकर स्वयंभूदेव के काव्य में प्रयुक्त अलंकार-वैभव का विवेचन करूँगा।

महाकवि स्वयंभू के शब्दालंकार :– शब्दालंकारों का अपना विशिष्ट चमत्कार होता है, जो सहज भी होता है और प्रयत्नज भी। शब्दालंकारों में "अनुप्रास" सर्वोपरि है, जिसके माध्यम से कुशल कवि एक ओर तो नादात्मकता का सौन्दर्य पैदा करता है दूसरी ओर चित्रात्मकता की सृष्टि करके रसानुभूति को तीव्रता देता है। कवि स्वयंभू को "पउमचरिउ" एवं "रिट्ठणेमिचरिउ" में वर्णों की मनोरम आवृत्ति से प्रसंगों का सौन्दर्य, विशेषतः युद्ध-प्रसंगों की प्रेषणीयता एवं बिम्बयोजना की क्षमता बढ़ाने में मदद मिली है।

अनुप्रास अलंकार :– जहाँ तक छेकानुप्रास का प्रश्न है, वह तो सर्वत्र सहज ही मिल जाता है। स्वयंभू ने "वृत्त्यनुप्रास अलंकार" के प्रयोग मे जो सौन्दर्य-सृष्टि की है, उसके कुछ उदाहरण देखिये –

(1) **"हरि पहरन्तु पसंसिउ जावेंहिं। जाणइ णयणकडक्खिय तावेंहिं ॥**
सुकइ-कह व्व सु-संधि-सु-संधिय। सु-पय सु-वयण सु-सद्द सु-वद्धिय ॥[9]

इस उद्धरण में "सु" की आवृत्ति "सात बार" तथा "स" की तीन बार एक ही पंक्ति में होना विलक्षण नहीं है क्या ? यहाँ तो "श्लेष" भी दर्शनीय है।

(2) आदि वर्ण एवं अन्त्य वर्ण की आवृत्ति एक ही पंक्ति मे दर्शनीय है –

"तरु तरल-तमाल-तालेल-कक्कोल-साला-विसालजंगणा बजुंला"[10]

इस पंक्ति में आदिवर्ण "त" की चार बार, अन्त्यवर्ण "ल" की 6 बार और साथ ही मध्यवर्ण "ल" की दो बार आवृत्ति से चमत्कार उत्पन्न हुआ है।

(3) एक ही शब्द में "वृत्त्यनुप्रास" की छटा अन्यत्र दुर्लभ ही है। देखिये –

"वणु भंजमि रसमसकसमसन्तु। महिवीढ-गाढु विरसो रसन्तु ॥
× × × ×
तुंगंग-भिंग-गुमुगुमुगुमन्तु। तरु-लग्ग-भग्ग-दुमुदुमुदुमन्तु ॥
एला-कक्कोलय-कडयडन्तु। वड-विडव-ताड तडतडतडन्तु ॥"[11]

उक्त उद्धरण के "रसमसकसमसन्तु", "गुमगुमगुमन्तु", "दुमदुमदुमन्तु" और "तडतड-तडन्तु" जैसे शब्दों का चमत्कार निःसंदेह विलक्षण ही है।

अनुप्रास के ऐसे सहज और चमत्कारपूर्ण प्रयोग स्वयंभू के "युद्ध-प्रसगो" को ओज तथा नाद-सौन्दर्य से मण्डित करके काव्योत्कर्ष में सहायक बने हैं, इसमें दो मत नहीं हो सकते। ऐसे प्रयोग "प्रयत्नज" होकर भी नितान्त स्वाभाविक लगते हैं, यह स्वयंभूदेव की विशेषता ही है।

यमक अलंकार :– शब्दालंकारों में "यमक" का विशेष स्थान है, चूंकि यह भी एक ओर नाद-सौन्दर्य की वृद्धि में सहायक होता है, तो दूसरी ओर कवि के भाषा-प्रयोग की क्षमता एवं चमत्कार का परिचय देता है। स्वयंभू मे यमक अलंकार भी अपने गौरव को लेकर उपस्थित हुआ है –

"जीवाउ वाउ हय हय वाराय। सन्दण सन्दण गय गय जे णाय ॥
तणु तणु जे खणद्धें खय होजाइ। धणु धणु जि गुणेण वि वंकु थाइ ॥
दुहिया वि दुहिय माया वि माय। समभाउ लेन्ति किर तिण्ण भाय ॥"[12]

इस उद्धरण में "वाउ" (श्रायु/वायु), "हय" (घोड़े/हत), "सन्दण" (रथ/खण्ड), "गय" (गज/रोग), "तणु" (तन/तृण), "घण" (घन/धनुष), "दुहिया" (दुहिता/दुष्टा), "माया" (माता/माया) तथा "भाउ" (भाई/भाग) जैसे नौ शब्दों की श्रावृत्ति करके वैराग्य के प्रसंग को जीवन्त कर दिया गया है। "पउमचरिउ" की 57वीं संधि तो जैसे "यमक" का उज्ज्वल दर्पण ही है। विस्तारभय से अधिक उद्धरण दे पाना संभव नहीं हो पाएगा।

श्लेष अलंकार :– स्वयंभू के काव्य में "श्लेष" का प्रयोग भी पग-पग पर मिल जाता है, जिससे लगता है कि स्वयंभू कला-पक्ष की दृष्टि से अलंकारों के महत्त्व को सर्वोपरि मानते रहे होंगे।

"सालंकारु सु-सरु सु-वियड्ढु सुहावउ पिय-कलत्तु वं ।
आरोहि-अध [व ?] रोहि-थाइय-संचारिहिं सुरय-तत्तु वं ॥"[13]

यहाँ "सालंकारु", "सुसरु", "सुवियड्ढु", "सुहावउ", "आरोहि", "अवरोहि", "थाइय" एवं "संचारिहि" शब्दों के श्लेष द्वारा एक ओर रावण द्वारा गाये हुए "गन्धर्व राग" की विशेषताएँ बताई गई हैं तो दूसरी ओर किसी सुन्दरी के रूप एवं रतिक्रिया का चित्रण हुआ है।

निष्कर्ष यही है कि शब्दालंकारों के प्रयोग में स्वयंभू सिद्धहस्त कवि सिद्ध होते हैं। यहाँ शेष शब्दालकारों को स्थानाभाव के कारण हम नहीं ले पा रहे है। यों "पुनरुक्ति" एवं "वीप्सा" के प्रयोग स्वयंभू मे सरलता से मिल जाते हैं।

महाकवि स्वयम्भू में प्रयुक्त अर्थालंकार :– अर्थालंकारों में यो तो स्वयभू अत्यधिक रुचि लेने लगते हैं फिर भी "स्वयंभू को इनमें सादृश्य मूलक अलंकारों से बहुत प्रेम है।"[14] उत्प्रेक्षा की गरिमा तो स्वयंभू से बढ़ी ही है, साथ ही, उपमा, रूपक एवं व्यतिरेक आदि का प्रयोग भी काव्योत्कर्ष की वृद्धि में सहायक रहा है। यहाँ हम अर्थालंकारों के प्रयोग की दृष्टि का मूल्यांकन कर रहे हैं।

उपमा अलंकार :– उपमा अलकार में भी स्वयम्भू की रुचि उत्प्रेक्षा की भाँति बहुत रही है। उपमा के प्रायः सभी भेदोपभेदों का प्रयोग करके कवि अपनी अभिव्यक्ति को शक्ति देता है। "पूर्णोपमा" का एक सुन्दर उदाहरण दर्शनीय है –

"तहिं गिरिवर-पट्ठे सोहइ लंकाणयरि किह ।
थिय गयवर-खंधे गहिय-पसाहण वहुअ जिह ॥"[15]

अर्थात् "गिरिवर की पीठ पर लंका नगरी ऐसे ही शोभित थी, जैसे महागज की पीठ पर सजी-धजी बधू बैठी हो।" इस उद्धरण में "लंका-णयरि" उपमेय, "वहुअ" उपमान, "सोहइ" गुणधर्म तथा "किह, जिह" वाचक शब्दों से सुपुष्ट पूर्णोपमा अलंकार का सौन्दर्य द्रष्टव्य है।

उपमानों के प्रयोग में स्वयम्भूदेव सदैव विविधता और नवीनता प्रदर्शित करते है, जिससे उनकी "उपमाएँ" हृदयस्पर्शी बन जाती हैं। "दुष्ट सास" की जो विलक्षण उपमा स्वयंभू देते हैं, उससे मेरे मन्तव्य की पुष्टि सहज ही हो जाती है –

"सुकइ-कहहों जिह खल-मइउ हिम-धवलियउ कमलिणिहिँ जिह ।
होन्ति सहावें बइरिणिउ णिय-सुण्हहुँ खल-सासुअउ तिह ।।"[16]

अर्थात् "जैसे सुकवि की कथा के लिए दुष्ट की मति और कमलिनी के लिए जैसे हिमघन है, वैसे ही बहुओं के लिए सासें शत्रु होती हैं।" यहाँ "गुणधर्म" का लोप रहने पर भी अर्थ सुस्पष्ट है।

स्वयंभू ने "मालोपमा अलंकार" का प्रयोग करते हुए जहाँ उपमाओं की झड़ी लगा दी है, वहाँ सौन्दर्य देखते ही बनता है –

"फल-फुल्ल-समद्धि-वणासइ व्व । सावय-परियरिय महाडइ व्व ।।
अहिणव-उल्लाव विलासिणि व्व । णर-वड्ढ-धूव खल-कुट्टणि व्व ।।
बहु दीव समुद्दन्तर महि व्व । पेल्लिय वलि णारायण-मइ व्व ।।
घण्टारव-मुहलिय गय घड व्व । मणि रयण समुज्जल अहि फड व्व ।।
ण्हाणब्भ वेस-केसावलि व्व । गन्धुक्कड कुसुमिय पाडलि व्व ।।"[17]

रूपक अलंकार :– जहाँ कहीं उपमेय मे उपमान का निषेधहीन आरोप किया जाता है, वहाँ रूपक अलंकार होता है। स्वयंभू के रूपकों का सौन्दर्य भी उपमाओं और उत्प्रेक्षाओ की तरह कुछ कम नहीं है। कुछ "रूपक" यहाँ दर्शनीय है। "वसन्त" का राजा के रूपक से चित्रण –

"पंकय-वयणउ कुवलय-णयणउ,
केयइ-केसर-सिर-सेहरू ।
पल्लव करयलु कुसुम-णहुज्जलु,
पइसरइ वसन्त-णरेसरू ।।"[18]

अर्थात् "पंकज-मुख, कुवलय-नेत्र, केतकी-पराग रूप शेखर, पल्लव रूपी करतल, उज्ज्वल कुसुम रूपी नखवाला वसन्त रूपी नरेश्वर प्रवेश करता है।" रूपक अलंकार से स्वयम्भू अपने 'प्रस्तुत' को प्रेषणीयता देने मे अत्यधिक सफल है। एक और उदाहरण प्रस्तुत है –

"पइसरेवि जेण रण सरवरें मालिहें खुडियउ सिर-कमलु ।
तहों खल हो पुरन्दर-हंसहों पाउमि पाण-पक्ख-जुअलु ।।"[19]

व्यतिरेक अलंकार – व्यतिरेक के माध्यम से कवि उपमान की सकारण हीनता दिखाकर उपमेय का उत्कर्ष दिखाता है। महाकवि स्वयम्भू ने 'व्यतिरेक' के चमत्कार को भी शीर्ष पर पहुँचा दिया है। द्रष्टव्य है –

"तहिं सेणिउ णामें णय-णिवासु । उवमिज्जइ णरवइ कवणु तासु ।।
किं तिणयणु णं णं विसम-चक्खु । किं ससहरु णं णं एक्क पक्खु ।।
किं दिणयरु णं णं डहण-सीलु । किं हरि णं णं कम-भुवण-लीलु ।।
किं कुंजरु णं णं णिच्च-मत्तु । किं गिरि णं णं ववसाय-चत्तु ।।
किं सायरु णं णं खार णीरु । किं वम्महु णं णं हय-सरीरु ।।
किं फणिवइ णं णं कूर भाउ । किं मारुउ णं णं चल-सहाउ ।।
किं महु महु णं णं कुडिल वक्कु । किं सुरवइ णं णं सहस-अक्खु ।।"[20]

'व्यतिरेक' का ऐसा विलक्षण प्रयोग अन्यत्र दुर्लभ है, लेकिन स्वयम्भू में ऐसे स्थल बहुत से हैं, जहाँ उपमेय के लिए सम्भावित सभी उपमानों का 'सकारण अपकर्ष' दिखाया गया है।

अपह्नुति अलंकार :— प्रयत्नपूर्वक निषेध करते हुए जहाँ उपमेय पर उपमान का आरोप किया जाए, वहाँ 'अपह्नुति अलंकार होता है। स्वयम्भू ने अपह्नुति अलंकार के प्रयोग में भी अपनी प्रतिभा का प्रयोग करके सभी प्रसंगों को हृदयस्पर्शी बना दिया है –

> **"किं तमु किं तमालतरु–पन्तिउ" । 'णं णं इन्दणील-मणि-कन्तिउ' ।।**
> **किं एयाउ कीर-रिञ्छोलिउ । 'णं णं मरगय–पवणालोलिउ' ।।**
> **किं महियलें पडियइँ रवि-किरणइँ । णं णं सूरकन्ति मणि रयणइँ ।।**[21]

'पउमचरिउ' की 69वीं संधि में विशल्या का रूप चित्रण करते हुए तो स्वयम्भू देव 'अपह्नुति' का सौन्दर्य निरन्तर 13 पंक्तियों मे दिखा कर जैसे स्वयं को इस क्षेत्र में सर्वोपरि घोषित करते हैं।

अनन्वय अलंकार :— यद्यपि अनन्वय अलंकार गौण-सा ही है, तथापि स्वयम्भू ने उसका भी यथास्थान सुन्दर प्रयोग करके अपने कौशल का परिचय दिया है –

> **अहवइ कित्तिउ णिव वण्णिज्जइ । जइ पर तं जि तासु उवमिज्जई ।।**[22]

लोकोक्ति अलंकार :— जहाँ कवि किसी लोक प्रसिद्ध उक्ति का चमत्कारपूर्ण प्रयोग करता है, वहाँ 'लोकोक्ति अलंकार' होता है। स्वयम्भू ने लोक प्रसिद्ध रामकथा ग्रहण की है, अतः 'लोकोक्ति अलंकार' भी उनके काव्य में बहुतायत से मिलता है। 'विनाशकाले विपरीत बुद्धिः' का सटीक प्रयोग दर्शनीय है –

> **"भणइ विहीसणु कुइय-मणु वयणु णिएवि दसाणण-केरउ ।**
> **मरण-काले आसण्ण थिएं सव्वहो होइ चितु विवरेरउ" ।।**[23]

'मरण काले आसण्ण थिएँ' से उक्ति में और भी गहराई आ गई है।

उदाहरण अलंकार :— महाकवि स्वयम्भू ने स्थान-स्थान पर नैतिक मूल्यों की स्थापना के प्रयास में 'उदाहरण अलंकार' का सार्थक प्रयोग किया है, जिससे उनकी उक्तियाँ वस्तुतः सूक्तियाँ हो गई हैं –

> **"अण्णु वि जो अण्ण हों हत्थेण । णिय-थाणहों मेल्लावियउ ।**
> **विच्चलु ववसाय विहूणउ, कवणु ण आवइ पावियउ ।।"**[24]

अर्थात् "जो दूसरों के हाथों अपने स्थान से हटा दिया जाता है और फिर भी निश्चल, क्रियाहीन रहता है, वह कौन-सी आपत्ति प्राप्त नहीं करता ?"

सन्देह अलंकार :— एक वस्तु में अनेक संभावनाओं की उपस्थिति 'सन्देह अलंकार' है। स्वयम्भू ने तो 'सन्देहों' की भी झड़ी ही लगा दी है।

"ग्रहवइ णवन्तु वुक्किय भरेण। तइलोक्कु वलित्तु व जिणवरेण ॥
ग्रहवइ भुवइन्द ललन्त-णालु। णीसारिउ महि उवरहों व बालु ॥
ग्रहवइ णं वसुह महोहराहँ । छोडाविय बालानुचिराहँ ॥
ग्रहवइ चलवलइ भुग्रंग-थट्टु । णं धरणि ग्रन्त पोट्टलु विसट्टु ॥"[25]

उपर्युक्त ग्रलंकारों के ग्रतिरिक्त प्राय. सभी ग्रर्थालंकारों, यथा – परिसंख्या, तद्गुण, ग्रसंगति, वक्रोक्ति एवं प्रतीप ग्रादि का प्रयोग महाकवि स्वयम्भू की महाकाव्य कृति 'पउमचरिउ' में हुग्रा है। यद्यपि उत्प्रेक्षा ग्रलंकार की भरमार स्वयम्भू में सहज ही है, तथापि रूपक, उपमा, व्यतिरेक ग्रादि के साथ-साथ ग्रनुप्रास, यमक, श्लेष ग्रादि का यथास्थान सार्थक प्रयोग स्वयम्भू ने किया है। ग्रतिशयोक्ति जैसे ग्रलंकारों को तो उत्प्रेक्षाग्रों के साथ कवि प्रयुक्त करता चला है।

निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि स्वयं को 'पिंगलशास्त्र' तथा भामह एव दण्डी के ग्रलंकार-शास्त्र से पूर्णत: ग्रनभिज्ञ कहनेवाला महान् शब्दशिल्पी स्वयम्भू वहाँ भी 'व्याज स्तुति' ग्रलंकार का ही प्रयोग करता है। प्रकृति चित्रण में भी ग्रालंकारिकता के कारण सौन्दर्य ग्रा गया है। नि:सन्देह, स्वयम्भूदेव ग्रलंकारो के प्रयोग मे निष्णात महाकवि सिद्ध होते है।

---

1 हिन्दी-काव्यधारा : राहुल सांकृत्यायन, किताब महल प्रकाशन, इलाहाबाद, पृष्ठ 50
2 पउमचरिउ, स्वयंभू, ज्ञानपीठ, नई दिल्ली (भाग 1), 1.3.10-11
3 कवि स्वयंभू, डॉ० संकटाप्रसाद, भारत प्रकाशन मदिर, ग्रलीगढ़, पृष्ठ 8
4 पउमचरिउ, स्वयंभूदेव (भाग 1) 1.3.8
5 "पुणु, रविसेणायरिय-पसाएँ", पउमचरिउ (भाग 1), 1.2.9
6 पउमचरिउ (भाग 1), 10.3.1-5
7 वही 13.1.2-7
8 वही (भाग–4), 61.14.1-4
9 वही (भाग 2), 38.3.1-2
10 वही (भाग 4), 51-2.2
11 वही (भाग 4), 51.1-2 ग्रौर 5-6
12 वही (भाग 2), 22.3.6-8
13 वही (भाग 1), 13.10.1
14 कवि स्वयंभू, डॉ. संकटाप्रसाद, पृ० 194
15 पउमचरिउ (भाग 2), 42.9.9
16 वही (भाग 1), 19.4.9
17 वही (भाग 1), 13.9.8-7
18 वही (भाग 1), 14.1.4
19 वही (भाग 1), 13-10
20 वही (भाग 1), 1.6.2-7
21 वही (भाग 1), 11,14.3-7
22 वही (भाग 2), 29.1.12
23 वही (भाग 4), 57.3.7
24 वही (भाग 1), 13.5-10
25 वही 13.4-5

पउमचरिउ के व्याकरण-उपमान

– श्री नेमीचन्द पटोरिया

□

महाकवि स्वयम्भू की परिचय-पूंजी अभी तक बहुत थोड़ी मिल पाई है, इससे अधिक पाने की जिज्ञासा, विज्ञों की खोज-पथ पर टकटकी लगाये हुए है। यहाँ तक कि महाकवि का जन्मस्थान, पठन, व्यवसाय, गृहस्थी, पुत्र संख्या व काव्यरचनाकाल भी ढूंढने पर न मिल सका। कहीं अतीत के कोने मे छिपा पड़ा है।

पउमचरिउ के सम्बन्ध में **स्वयं कवि की उक्ति है –**

यह रामकथारूपी नदी क्रम से चलीं आ रही है, जो अक्षरों के विस्तार के जलसमूह से सुन्दर है, जो सुन्दर अलंकार और छन्दरूपी मत्स्यों को धारण करती है, जो दीर्घ समासों के प्रवाह से कुटिल है, जो संस्कृत-प्राकृतरूपी किनारों से अंकित है, जिसके दोनों तट देशी भाषा से उज्ज्वल हैं, कहीं-कहीं कठोर और घन शब्दों की चट्टानें हैं, अर्थों की प्रचुर तरंगों से निस्सीम है, और जो आश्वासों (सर्गों) रूपी तीर्थों से प्रतिष्ठित है। शोभित रामकथारूपी इस नदी को गणधर देवों ने बहते हुए देखा, बाद में आचार्य इन्द्रभूति ने, फिर गुणों से विभूषित धर्माचार्य ने, फिर संसार से विरक्त प्रभवाचार्य ने, फिर अनुत्तर वाग्मी कीर्तिधर ने। तदनन्तर आचार्य रविषेण के प्रसाद से कविराज ने इसका अपनी बुद्धि से अवगाहन किया।[1]

छन्द-अलंकार :– स्वयं कवि ने अपनी कविता का वर्णन करते समय आरम्भ में ही छन्द और अलंकार का वर्णन किया है। छन्द कविता का आवरण है, और अलंकार कविता का आभरण। छन्द-आवरण में कविता लिपटी व सिमटी रहती है; और अलंकार-आभरण से वह सजायी जाती है तब कविता की सुन्दरता में चार चाँद लग जाते हैं, तब उसका सौन्दर्य खिल उठता है।

पउमचरिउ की अनोखी विशेषता

कवि ने अपनी उपमा आदि अलंकारों के उपमान व्याकरण और जैन-आगम से लिये हैं, जो अपूर्व, अश्रुतपूर्व और अद्‌भुत है। यही अनोखी विशेषता की बात है।

वैसे व्याकरण रसहीन, शुष्क विषय गिना जाता है, लेकिन कवि के स्पर्श से वह सरस और रमणीय बनकर कविता-वनिता का अलंकार बन गया। कविता का सौन्दर्य निखर गया। इसी प्रकार कवि ने अपनी कविता में जैन दर्शन व आगम के उपमान दिये हैं। सामान्य लौकिक विषयों में पारलौकिक धार्मिक उपमान देना अलौकिक बात है। पर कवि ने बड़ी चतुराई और सूझबूझ से ऐसे धार्मिक उपमान दिये हैं जो अपनी अनोखी विशेषता रखते हैं।

यहाँ **बानगी रूप कुछ व्याकरण के** व कुछ जैनागम के उपमान पउमचरिउ से उद्‌धृत कर विद्वानों के सम्मुख प्रस्तुत किये जाते हैं –

व्याकरण के उपमान

1. भगवान् ऋषभ शिशु से बालक और बालक से कुमार होने लगे। इस देह-वृद्धि का कवि वर्णन करता है –

काले गलन्तएँ णाहु णिय-देह-रिद्धि परियड्ढइ।
विवरिज्जन्तु कईहिं वायरणु गन्थु जिह वड्ढइ॥[2]

समय बीतने पर स्वामी (ऋषभ) की देह-ऋद्धि उसी प्रकार बढ़ने लगी जिस प्रकार कवियों द्वारा व्याख्या होने पर व्याकरण-ग्रन्थ फैलता जाता है।

उपमा कितनी सुन्दर है! इससे ज्ञात होता है कि व्याकरण के एक लघु-सूत्र में बृहत् व्याख्या वैसे ही समाई हुई होती है जैसे कलिका में खिलता हुआ पुष्प।

2. यहाँ भरत और बाहुबलि के मल्ल-युद्ध का वर्णन है –

जं जिणेवि ण सक्किउ सलिल-जुज्झु। पारद्धु पडीवउ मल्ल-जुज्झु॥
आवील विकच्छउ बल-महल्ल। अक्खडएँ णाइँ पइट्ठ मल्ल॥
ओवग्गिय पुणु किय बाहु-सद्द। णं भिडिय सुवग्ग-तियग्ग सद्द॥[3]

जब भरत जल-युद्ध नहीं जीत सका तो उसने शीघ्र ही मल्ल-युद्ध प्रारम्भ किया। कसकर लंगोट पहिने हुए दोनों ही बल में महान् थे, अखाड़े में जैसे मल्लों ने प्रवेश किया

हो, ताल ठोकते हुए उन्होंने आक्रमण किया, मानो सुबन्त तिङन्त शब्द आपस में भिड़ गये हों।

यहाँ सुबन्त और तिङन्त शब्द व्याकरण के जाने-माने सम-समान जोरदार शब्द हैं और सरलता से आपस में गुत्थमगुत्था हो जाते हैं, मानों दोनों एक दूसरे से भिड़ गये हों। व्याकरण-प्रवीण ही उन दोनों को पहिचान सकता है। सामान्य बुद्धि भ्रम में पड़ सकती है। सुबन्त संज्ञा व सर्वनाम से सम्बद्ध है और तिङन्त क्रिया के रूपों से।

३. निर्घात और मालि के युद्ध में दोनों के रथ, छत्र और ध्वजाएं छिन्न-भिन्न हुईं; इसका वर्णन कवि के शब्दों में –

छिन्दन्ति महारह-छत्त-धयइँ।
वइयागरण व वायरण-पयइँ ॥[4]

वे बड़े-बड़े रथ, छत्र और ध्वजों को उसी तरह छिन्न-भिन्न कर देते हैं, जिस प्रकार वैयाकरण व्याकरण के पदों को।

उक्ति सजीव है। वैयाकरण को व्याकरण के पदों के लिंग, विभक्ति, उपसर्ग आदि छिन्न-भिन्न करने ही पड़ते हैं तभी उसको शब्द का असली या मूल रूप प्राप्त होता है। इसी प्रकार दोनों योद्धा, रथ, छत्र आदि छिन्न-भिन्न करने पर तुल उठे।

4. हनुमान जब राम-दूत बनकर लंका मे गया तो उसने पट्टरानी मन्दोदरी को रावण की अन्य पत्नियो से घिरा देखा। उसी का शब्द-चित्रण है –

परिवारिय लंकाहिव-पत्तिहिँ।
पढ़म विहत्ति व सेस-विहत्तिहिँ ॥[5]

जिस प्रकार प्रथमा विभक्ति शेष विभक्तियों से घिरी रहती है, उसी तरह रावण की दूसरी पत्नियों से वह घिरी हुई थी।

प्रथमा विभक्ति (कर्त्ता) वाक्य का प्रधान अंग है, और शेष विभक्तियाँ इसी प्रथमा विभक्ति के आसपास मंडराया करती हैं, उसी प्रकार पट्टरानी मंदोदरी के आसपास रावण की अन्य पत्नियाँ मंडराती थीं।

4. सीता से हनुमान अशोक-वाटिका में कहते हैं कि लक्ष्मण आपकी ऐसी याद करते हैं –

सुमरइ भविउ जिणेसर-भत्ति व।
सुमरइ वइयाकरणु विहत्ति व ॥
सुमरइ ससि संपुण्ण पहा इव।
सुमरइ बुहयणु सुकइ-कहा इव ॥[6]

जिस प्रकार भव्यजीव जिन को भक्तिपूर्वक याद करता है, जिस प्रकार वैयाकरण विभक्ति को याद करता है, जिस प्रकार चन्द्रमा सम्पूर्ण प्रभा को याद करता है वैसे ही हे देवी ! लक्ष्मण आपको याद करते हैं।

5. तदनन्तर अपने पुराने वैर को याद कर यक्षाधिप ने अंगद को अपने सन्देश में कहा कि रावण को याद दिला देना कि तुमने चन्द्रोदर को मारकर उसका राज्य हड़प लिया है, और उसे तुमने खर-दूषण को दे दिया है।

वायरणु जेम जं पुज्जणीउ । वायरणु जेम स-विसज्जणीउ ।
वायरणु जेम आगम-णिहाणु । वायरणु जेम आएस-थाणु ।।
वायरणु जेम अत्थुब्बन्तु । वायरणु जेम गुण-विद्धि देन्तु ।
वायरणु जेम विग्गह-समाणु । वायरणु जेम सन्धिज्जमाणु ।।
वायरणु जेम अब्वय-णिवाउ । वायरणु जेम किरिया-सहाउ ।
वायरणु जेम परलोय-करणु । वायरणु जेम गण-लिंग-सरणु ।।[7]

वह राज्य, जो व्याकरण की भाँति अत्यन्त विसर्जनीय-सहित (विसर्ग और दूत) था, जो व्याकरण की भाँति आगम (वर्णागम और द्रव्यागम) का स्रोत था, व्याकरण की भाँति जिसमे आदेश के लिए स्थान प्राप्त था, व्याकरण की भाँति जो अर्थों को धारण करता था, व्याकरण की भाँति जो गुण और वृद्धि को प्रश्रय देता था, व्याकरण की भाँति जिसमें विग्रह (पदच्छेद और सेना) की परिपूर्णता थी, व्याकरण की भाँति जिसमे अव्यय और निपात थे, व्याकरण की भाँति जिसमें क्रिया की सहायता ली जाती थी, व्याकरण की भाँति जिसमे दूसरों (वर्णों या शत्रुओं) का लोप कर दिया जाता था, व्याकरण की भांति जिसमे गण और लिंगो से महायता ली जाती थी।

उपर्युक्त संपूर्ण कडवक के उपमान व्याकरणीय है। इस कडवक को समझने के लिए निष्णात वैयाकरण की शरण लेनी पड़ेगी। यह श्लेषपूर्ण वर्णन है, जो साधारण पाठकों की समझ से परे की बात है। पर हाँ ! इससे सिद्ध होता है कि कवि स्वयभू केवल कविता रचयिता नही किन्तु तलस्पर्शी वैयाकरण भी थे। उनका यह श्लेषात्मक वर्णन उनकी गहराई और विद्वत्ता का सूचक है, जिसकी थाह लेना केवल प्रज्ञाबुद्धि का काम है। कवि की गहरी विद्वत्ता, उसकी गम्भीर कल्पना और व्याकरण सरीखी शुष्कता को रसमयी कविता मे ढाल देना उसी का काम है। उपर्युक्त कडवक का वर्णन किसी भी साहित्य में बेजोड़ है।

7 अगद राम का दूत बनकर लंका गया और रावण को सती सीता वापिस करने के लिए कहा और श्रीराम से संधि करने के लिए उपदेश दिया –

तं णिसुणेंवि हसिउ दसाणणेण ।
किं बुज्झिय संधि समासु केण ।।
के लक्खणु केण पमाणु सारु ।
किं वलु किं साहणु बुण्णिवारु ।।[8]

यह सुनकर, रावण ने मुसकराकर कहा – "क्या कोई संधि और समास की बात समझ सका है। लक्षण को कौन समझ सका है ? कौन उसके प्रमाण और शक्ति को पहचान सका है।"

यहाँ संधि और समास का प्रयोग इसलिए हुआ है कि दो वर्णों में संधि होती है और दो पदों में समास। रावण का भाव यह है कि रामचन्द्र किस वर्ण का है जानते नहीं, फिर संधि कैसी ? और उसका कोई पद (प्रतिष्ठा) नहीं तो बिना पद के समास (मेल) कैसा ? पहिले संधि का लक्षण (परिभाषा) और उसका प्रमाण (साख) एवं प्रभाव जानकर संधि होती है। व्याकरण के सामान्य शब्दों का कितना सुन्दर श्लेषात्मक वर्णन है !

श्री राम और रावण की सेनाएं रणक्षेत्र में आपस में भिड़ गयीं, उसका कवि ने व्याकरण के उपमानों से चमत्कारपूर्ण अपूर्व वर्णन किया है –

अब्भिट्टइँ बे वि स-वाहणाइँ। वायरण-पयाइँ व साहणाइँ ।।
जिह ताइँ तेम्ब हल-संगहाइँ। जिह ताइँ तेम किय-विग्गहाइँ ।।
जिह ताइँ तेम सन्धिय-सराइँ। जिह ताइँ तेम पच्चय-कराइँ ।।
जिह ताइँ तेम उवसग्गिराइँ। जिह ताइँ तेम्ब जस-मग्गिराइँ ।।
जिस ताइँ तेम पर-लोप्पिराइँ। बहु-एक्क-दु-वयण-पजम्पिराइँ ।।
जिह ताइँ तेम्ब अत्थुज्जलाइँ। परियाणिय-सयल-बलाबलाइँ ।।
जिह ताइँ तेम्ब णासायराइँ। जिह ताइँ तेम बहु-भासिराइँ ।।
× × × अण्णण्ण-सद्द-विण्णासिराइँ ।।

जिह ताइँ तेम आयरियइँ, वाइ-णिवायहुँ चरियइँ।
बीहर-समास-अहियरणइँ, बलइँ णाइँ वायरणइँ ।।[9]

अपने-अपने वाहनो के साथ, वे सेनाएँ ऐसे भिड़ गयीं, मानो व्याकरण के साध्यमान पद ही आपस मे भिड़ गये हों। जैसे व्याकरण के साध्यमान पदों में क,ख,ग, आदि व्यञ्जनों का संग्रह होता है, उसी प्रकार सेनाओ के पास लांगूल आदि अस्त्र थे। जैसे व्याकरण मे क्रिया और पदच्छेद आदि होते हैं, उसी प्रकार सेनाओ मे युद्ध हो रहा था। जैसे व्याकरण मे संधि और स्वर होते हैं, उसी प्रकार सेनाओं मे स्वर-संधान हो रहा था। जैसे व्याकरण मे प्रत्यय विधान होता है, उसी प्रकार उन सेनाओं मे युद्धानुष्ठान हो रहा था। जैसे व्याकरण मे, प्र, परा आदि उपसर्ग होते हैं, उसी प्रकार सेनाओं में घोर बाधाएं आ रही थीं। जैसे व्याकरण मे जस आदि प्रत्यय होते हैं, उसी प्रकार दोनों सेनाओं में "यश" की चाह थी। जिस प्रकार व्याकरण में, पद पद पर लोप होता है, उसी प्रकार सेनाओ में शत्रुलोप की होड़ मची हुई थी। जैसे व्याकरण में एक, दो, बहुवचन होता है, वैसे ही उन सेनाओं में बहुतसी ध्वनियाँ हो रही थीं। जिस प्रकार व्याकरण अर्थ से उज्ज्वल होता है, उसी प्रकार सेनाएँ शस्त्रों से उज्ज्वल थीं, और एक दूसरे के बल-अबल को जानती थीं। जिस प्रकार व्याकरण में "न्यास" की व्यवस्था होती है, उसी प्रकार सेनाओं में भी थी। जिसप्रकार व्याकरण में बहुत-सी भाषाओं का अस्तित्व होता है, उसी प्रकार सेनाओं में तरह-तरह की भाषायें बोली जा रही थीं। जैसे व्याकरण में शब्दों का नाश होता है, वैसे ही सेनाओं में विनाश-लीला मची हुई थी। उन सेनाओं का लगभग, व्याकरण के समान आचरण था, दोनों के चरित्र में निपात था, व्याकरण में आदि निपात है, सेना में योद्धा अन्त में धराशायी हो रहे थे।

व्याकरण के जानकारों के लिए इन श्लेषात्मक उपमानों के अर्थ स्पष्ट हैं और वे कवि के गम्भीर ज्ञान तथा कल्पना शक्ति की भूरि भूरि प्रशंसा करेंगे ही।

इसी प्रकार और भी अनेक व्याकरण-उपमान कवि के काव्य में देखे जा सकते हैं।

---

[1] पउमचरिउ, 1.2.1-9 [2] वही, 2.7.9 [3] वही, 4.11.1-3
[4] वही, 7.14-4 [5] वही, 49.20-6 [6] वही, 50.2.7-8
[7] वही, 58.9.3-8 [8] वही, 58-11-12 [9] वही 64-1-1-9

कविराज स्वयंभू

श्री नेमीचन्द्र पटोरिया 'चन्द्र'

कविराज स्वयंभू ! गुणनिधान !
हे कीर्तिवान् ! प्रतिभा-प्रधान !

(१)

हैं गूंज रहे तुम काव्य-गान,
गुंजित भू है, गुंजित विहान।
साहित्य-रसिक जी भर भरकर,
कर रहे काव्य-रस अमिय-पान।।
कविराज स्वयंभू ! गुणनिधान !
हे छंदशिरोमणि ! यश-वितान !

(२)

तुम हँस-वाहिनी के सुपूत,
हो महाकाव्य के अग्रदूत !
आश्चर्य-चकित है वर्तमान,
जैसा विस्फारित विगत-भूत।।
तुम कालजयी, तुम हो महान्।
कविराज स्वयंभू ! गुण-निधान !

महाकवि स्वयम्भू की भाषा में देशी तत्त्व

— डॉ० देवेन्द्रकुमार जैन

☐

भारतीय आर्य-भाषा शुरू में देशी यानी बोलचाल की ही भाषा रही होगी। लिपि के आविष्कार के कारण जब वह श्रव्य (अमूर्त) से दृश्य (मूर्त) बनी तो उसने क्षर से अक्षर का रूप ग्रहण कर लिया। यहीं से उसका इतिहास बनना शुरू हुआ। लिखी गई भाषा से जब बोली गई भाषा दूर जा पड़ती है तो उसमें स्थिरता और गतिशीलता, मानक और देशी तत्त्वों का प्रश्न पैदा होता है। मानकीकरण के बावजूद भाषा आगे बढ़ती है और देशीकरण प्रदेशीकरण में बदलता है। नए रूपों के प्रतिनिधि मूर्तीकरण के लिए लिपि भी बदलती है। इस प्रकार देशी तत्त्व और शास्त्रीय तत्त्व का प्रश्न स्वयंभू की ही भाषा का नहीं, अपितु समूची भारतीय आर्यभाषा का प्रश्न है।

भारतीय आर्यभाषा का पहला लिखित या मूर्त रूप ऋग्वेद में मिलता है। उसका आधार बोलचाल की भाषा का रूप ही रहा होगा, यह तय है क्योंकि कोई भी भाषा स्वयंसिद्ध/स्वयंभू नहीं होती। ऋग्वेद की साहित्यिक भाषा बननेवाली आर्यों की जनभाषा, भारोपीय भाषा की एक टहनी थी, या विभिन्न आर्यगणों की भाषाओं के मेलजोल से बनी भाषा थी, यह प्रश्न यहाँ अप्रासंगिक है। आर्यों के कई गरण रहे होंगे। उन्होंने जब घुमंतु जीवन से जनपदीय और खेतीबाड़ी का जीवन शुरू किया, तो उनके बीच एक सामान्य भाषा रही होगी, जिसे लेकर या तो वे इस देश से बाहर गए, या बाहर से इस देश में आए, यह जानने का कोई भौतिक प्रमाण हमारे पास नहीं है, लेकिन यह निर्विवाद है कि ऋग्वेद की लिखित भाषा आर्यों की तथाकथित जन-भाषा से अधिक दूर नहीं रही होगी, और उसमें थोड़ी बहुत स्थानीय भिन्नताएँ भी रही होंगी।

पाणिनि की भाषा वैदिक भाषा की तुलना मे लोकभाषा थी। उन्होंने कहा है कि दोनों में ह्रस्व 'ए' 'ओ' स्वर नहीं होते। इससे साफ है कि उनके समय ऐसी भी आर्य भाषाएँ थीं जिनमें इन स्वरों का प्रयोग था। उनके आधार पर विकसित पालि और प्राकृतों में ह्रस्व 'ए' और 'ओ' स्वर हैं, दूसरी ध्वनियों और रूपों को लेकर भी उनमें भिन्नता है। लोक-भाषा से पाणिनि का अभिप्राय देशभाषा से है। परम्परागत भाषा पर देशी दबाव के कारण फिर दोनों में अन्तर पड़ा, संस्कृत और प्राकृत इसी अन्तर को सूचित करती हैं। ये दो सर्वथा स्वतन्त्र भाषाएँ न होकर, एक ही भाषा की दो प्रवृत्तियाँ हैं। कुछ विद्वान् मूल आर्य जन-भाषा को प्राकृत कहने के पक्ष मे हैं, क्योंकि प्राकृतों में कुछ ऐसी विशेषताएँ मिलती हैं, जो संस्कृत में और ऋग्वेद की भाषा में नहीं हैं या जो ऋग्वेद की भाषा में हैं किन्तु संस्कृत मे नहीं है। इस सम्बन्ध मे यह उल्लेखनीय है कि किसी भाषा के लिखित साहित्य में यदि कोई विशेषता या प्रवृत्ति नहीं मिलती, तो इसका अर्थ यह नहीं है कि वह उसकी थी ही नहीं। फिर प्राकृत शब्द, उस साहित्य की भाषा के लिए रूढ़ है जो संस्कृत छायावाली हैं। प्राकृत प्रकृत से बना शब्द है जबकि सस्कृत का अर्थ है, कृत का संस्कार करनेवाली भाषा। "कृत" यानी की गई। भाषा की ये दोनों प्रवृत्तियाँ शाश्वत हैं, और इसी तरह उसमें मानक तत्त्वों और देशी तत्त्वो का द्वन्द्व और समन्वय, एक शाश्वत प्रक्रिया है। वैदिक युग का लोकतत्त्व प्राकृत युग मे देशी तत्त्व से जाना जाने लगता है। प्राकृतो पर जब सहज वचन-व्यापार के देशी-तत्त्व का दबाव पड़ता है और वे मानक भूमिका ग्रहण करती हैं तो वे अपभ्रंश कहलाती है। अपभ्रंश का शाब्दिक अर्थ है अधिक विकसित भाषा, या आगे बढ़ी हुई भाषा। भारतीय आर्यभाषा की यह व्याख्या श्रमण ब्राह्मण विवाद से परे, एक वैज्ञानिक व्याख्या मानी जा सकती है। स्वयंभू ने जिस भाषा में लिखा, उसे वह तीन नाम देते हैं सामान्य भाषा, देशी भाषा और अवहंस। वह ग्रामीण भाषा का भी उल्लेख करते है जैसा कि इस कथन से स्पष्ट है –

सामण्णभास छुडु सावडउ।
छुडु आगमजुत्ति का वि छडउ ।।
छुडु होंतु सुहासिय वयणाइं।
गामिल्लभास परिहरणाइं ।। प०च० 1.3.10

परम्परा से संप्राप्त सामान्य भाषा में मैं आगम (पुराण-काव्य) की रचना करता हूँ, ग्रामीण भाषा से रहित, मेरी वाणी सुभाषित हो।

इसी प्रकार अपनी रामकथा की तुलना नदी से करते हुए स्वयंभू कहते हैं – इस रामकथारूपी नदी को 'गणधरों' और 'आचार्यों' ने बहते हुए देखा है, उसे मैंने (स्वयंभू ने) भी बांधने का प्रयास किया है, मेरी इस रामकथा-रूपी नदी के तट देशीभाषा के जल से उज्ज्वल हैं, पुलिन (तटों के ऊपरी हिस्से के भाग) संस्कृत और प्राकृत से अलंकृत हैं। जाहिर है कि स्वयंभू जहाँ परम्परागत देशीभाषा, सामान्यभाषा यानी अपभ्रंश में सृजन के लिए प्रतिबद्ध हैं, वहीं वे गामिल्लभाषा से भरसक परहेज करते हैं, जो उनके समय में वास्तविक देशी तत्त्वों से भरपूर भाषा या भाषाएँ थीं। गामिल्लभाषा से बचने का एक कारण यह है कि काव्य की परम्परागत भाषा में, जो पहले ही वैकल्पिक प्रयोगों से भरपूर

थी, और देशी प्रयोग आ आते तो वह छिन्न भिन्न हो जाती, अपने समय की एक मानक साहित्यिक भाषा के रूप में।

उक्त विवेचन की पृष्ठभूमि में स्वयंभू द्वारा प्रयुक्त कतिपय ऐसे शब्दों की व्युत्पत्तियाँ दी जा रही हैं, देशी होते हुए भी जिनमें भावी देशी शब्द बनने की सम्भावना निहित है।

उब्भिय/ऊभा/खड़ा

स्वयम्भू का प्रयोग है 'केहिं मि उब्भियाइं धय चिन्धयाइ' किन्हीं के द्वारा ध्वजचिह्न उठा दिये गए। कबीर ने कहा है – 'विरहिणी ऊभी पंथ सिरि', पंथ के सिरे पर विरहिणी खड़ी हो गई। वर्तमान राजस्थानी, गुजराती और भीली में 'ऊभा होना' चलता है। खड़ी बोली को छोड़कर हिन्दी बोलियों में इसके लिए 'ठाढ़ होना', प्रयोग है। पंजाबी, हरियाणी, कौरवी तथा खड़ीबोली में "खड़ा होना" प्रयोग है। उब्भिय के मूल में संस्कृत ऊर्ध्वित शब्द है, उब्भिय से ऊभा का विकास स्पष्ट है। ठाढ़ के मूल में संस्कृत स्थान है। लेकिन खड़ा का विकास विवादभरा है। कुछ लोग संस्कृत "स्क" से इसका विकास मानते हैं, और कुछ "स्थान" से क्योंकि प्राकृत वैयाकरणों ने स्थान और उससे विकसित ठाण का विकल्प 'खाण' माना है, जैसे स्थाणु का खाणु।

स्वयम्भू ने "खड़ा" का प्रयोग नहीं किया।

ढोर/धवल

"ढोर" आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में व्यापक रूप से प्रचलित शब्द है। "ढोर" के मूल में धवल शब्द होना चाहिए। अच्छे और स्वामिभक्त बैल के लिए "धवल" शब्द का प्रयोग अपभ्रंश में है। धवल के कई अर्थ हैं। जैसे "धवल मंगल गान रवाकुले" में धवल का अर्थ है तीर्थंकरों के लौकिक यश का वर्णन करने वाला गीत। इसी धवल से मराठी मे "ढवल" बनता है। व्युत्पत्ति होगी धवल>धउर>धोर>ढोर (मूर्धन्यीकरण), सफेद रंग के बैल को धौरा कहते हैं। "गाय ढोर" में धवल रूप बदल कर मौजूद है। ढोर-डंगर में भी यही बात है। स्वयम्भू का प्रयोग है "दुब्बल ढोरइं पंके इव खुत्तइँ" कीचड़ में फँसे हुए ढोर की तरह।

जुहार/जुकार/जयकार

"सिर करयल करेवि ओक्कारिउ"।

सिर पर करतल कर जय-जय-कार किया। जयकार>जउआर>जोआर>जोहार >जुहार। पंजाबी में जुकार होता है। मानस में प्रयोग है, "करहिं जुहार भेंट धरि आगे" 2/135-कोल किरात उपहार रखकर, राम का जयजयकार करते हैं।

पाहुना/प्राघूर्णक

"सिरिकंठ णाम णिव मेहुणउ।
रयणाउरहो आइउ पाहुणउ॥"

श्रीकंठ नामक राजा का साला पाहुना बनकर आया। व्युत्पत्ति – प्राघूर्णक, पाहुण्णउ > पाहुना।

पइज्ज

स्वयम्भू कहते हैं – **"पइज्ज करेवि गउ दसलोयणउ"** रावण प्रतिज्ञा करके गया। जायसी कहते हैं – "वितउर चली पैंज कै दूती" दूती प्रतिज्ञा कर दशपुर के लिए चली। प्रतिज्ञा > पइज्ज > पेंज > पैंज।

डाल/दारु/डोल/ढोल

'डोलंति डाल सहु तरुवरेहिं' तरुवरों के साथ डालें हिल रही थीं। हिन्दी में डोलना की जगह अधिकतर हिलना आता है। दारु > दार > डार > डाल। डोल > ढोल।

धरण

'धन पाणपियारी तहो खरहो' उस खरदूषण की प्राणप्यारी पत्नी। ढोल्ला सामला धण चंपावण्णी।' दूल्हा सांवला और धन्या चंपई रंग की। कबीर कहते हैं, 'धन मैली पिउ ऊजला'।

– प्राचीन काल में पत्नी को आदर देने के लिए धन्या कहते थे। व्युत्पत्ति है – धन्या > धण्ण > धण > धन।

दत्ति/दाति

'णं दत्ति विवज्जिउ किविण धणु' दत्ति यानी दान से रहित जैसे मक्खीचूस का धन। दातृता > दाइत्ता > दत्ति यानी दान। इसी दत्ति का परवर्ती विकास दाति है जिसका प्रयोग कबीर ने किया है –

'सतगुरु समान को सगा
सोधी सई न दाति'

सद्गुरु के समान कोई सगा नहीं है और ईश्वर की शोध (खोज) के समान समर्पण की भावना नहीं। ईश्वर के प्रति संपूर्ण समर्पण ही उसकी खोज है। कबीर के व्याख्याकारों ने इसके विभिन्न विचित्र अर्थ किये हैं।

बड़ा/बृहत्

'अण्णु वि बड्डारउ सविसेसउ
सहव कं पि देहि आएसउ'

हे राम ! कोई दूसरा बड़ा खास आदेश दीजिए। बृहत्तर > बअड्डअद > बड्डअर > बड्डारउ। बृहत् > द्-बअड्ड > बड्ड > बड़ा।

झीना

'झीणउ दुराउलेण वरवेसु व'

'हे देवि (सीते) आपके वियोग से राम वैसे ही क्षीण हैं जैसे – दुष्ट राजकुल से सुन्दरदेश। क्षीण > झीण। संस्कृत की संयुक्त ध्वनि क्ष के विकास की तीन प्रक्रियाएँ हैं :– क्ष = च्छ, पक्ष > पच्छ। क्ष = क्ख, पक्ष > पक्ख। क्ष = झ, क्षीण > झीन। 'झीनी झीनी बीनी चदरिया,' कबीर।

कंठ कुठारा

कुठार का अर्थ सरल है, परन्तु कंठकुठार समस्त पद के अर्थ को लेकर हिन्दी के विद्वानों में बहुत बड़ी भ्रांति है। वे कुषटी का अर्थ पगड़ी या पकड़ी करते हैं। रामचरित मानस में अंगद रावण से कह रहा है –

दसन गहहु तृण कंठकुठारी। परिजन संग निज नारी ॥
सादर जनक सुता करि आगे। एहि विधि चलहु सब भय त्यागे ॥

तुम दांतो मे तृण और कठ में कुठारी लो तथा कुटुम्बीजनों के साथ अपनी स्त्री (मन्दोदरी) को लेकर सीता को सबसे आगे रखो। इस प्रकार तुम सब तरह का डर त्याग कर राम से मिलो। आत्म-समर्पण का यह रूप बहुत पुराना है। स्वयंभू के रिट्ठणेमिचरिउ में इसका उल्लेख इस प्रकार है :–

"दन्ततिणग्गो कंठकुठारें।
णमिउ णराहिउ विणयाचारें ॥
हउँ तुहारा एवहिं किंकरु।
सपरिवार सकलत्तु सपुत्तउ ॥

जिसके दांतों में तिनके का अगला भाग है, और कंठ में कुठार है, ऐसे विनयाचार के साथ राजा विराट् ने पांडवों को नमन किया और कहा कि मैं इस समय परिवार, कलत्र और पुत्र के साथ आपका अनुचर हूं।

अहिवाता

'चिरू अहिवात असीस हमारी।' मानस में अनसूया सीता को आशीर्वाद दे रही है कि तुम बहुत समय तक सौभाग्य से भरपूर रहो।

अपभ्रंश मे अविधवात्व का अइहवात्त होता है। उसका परवर्ती विकास है अहिवात्त >अहिवाता।

जौहर करना/जतुगृह करना

'जौहर कहं साजा रनिवासू' (पदमावत) के अर्थ मे आचार्य शुक्ल ने लिखा है – जब गढ से निकलकर पुरुष लड़ाई में काम आ जाते थे, तब स्त्रियां चट चिता में कूद पड़ती थीं। यही "जौहर" कहलाता था। जौहर दिखाना और जौहर करना दो अलग अलग मुहावरे हैं। जौहर की प्रथा सामूहिक अग्निदाह की प्रथा थी। जौहर मूलत: जतुगृह यानी लाख के बने रासायनिक भवन को कहते थे। पांडवों के दहन के लिए कौरवों ने ऐसा लाक्षागृह बनवाया था। स्वयम्भू ने उसका वर्णन इस प्रकार किया है।

एहु ण भवणुभीम भल्लारउ।
अपसत्थु थिउ सब्बागरउ ॥
सण सज्ज रसवसा पिय संगहु।
लक्खाकिय तरण कट्ठ परिग्गहु ॥
वरिसब्भंतरि हुयवह वाहणु।
रक्खइ जइवि सक्कु नारायणु ॥ रि० णे० च० कु० कां० 10

हे भीम, यह भवन भला नहीं है, सचमुच का होते हुए भी अप्रशस्त है, यह सन सर्ज वृक्ष के रस, वसा और घी का संग्रह है। लाख की सीकों और काठ से निर्मित है, यह सालभर के भीतर जलकर खाक हो जाएगा, भले स्वयं इन्द्र और नारायण ही इसकी रक्षा क्यों न करें।

जतुगृह>जउघर>जौहर>जौहर>जौहर करना, जतुगृह में जलकर सामूहिक आत्मदाह करना।

ये और ऐसे कितने ही शब्द है जैसे बरात, जनैत, दहेज, असवार, पील, दूल्हा जिनको अरबी, फारसी मूलक माना जा रहा है जबकि वे देशी धारा से आगत हैं। भाषा के अतिरिक्त, हिन्दी की प्रबंधकाव्य की दोहा चौपाई शैली का उत्स, स्वयंभू की रड्डो शैली है, जो अपभ्रंश के आदिकवि चतुर्मुख के पद्धतिकाबंध का दूसरा नाम है। स्वयंभू का अध्ययन हिन्दी भाषा और कविता की प्रवृत्तियों के विकास के अध्ययन के लिए अनिवार्य है।

अपभ्रंश-रामायण पउमचरिउ के हनुमान

— डॉ० श्रीरंजनसूरिदेव

□

भारतीय संस्कृति में रामभक्त हनुमान की अवतारणा वीरता, जितेन्द्रियता और परिनिष्पन्न ज्ञान के आगार के रूप में हुई है। अन्तर केवल इतना ही है कि वैदिक साहित्य में हनुमान को दिव्य व्यक्तित्व से विभूषित बतलाया गया है और वैदिकेतर जैन-साहित्य मे उनके विभूतिमान् व्यक्तित्व को मानवीय धरातल पर प्रतिष्ठित किया गया है। जहाँ तक आदर-भाव का प्रश्न है, सम्पूर्ण भारतीय साहित्य में उन्हें समान समादरणीय स्थान प्राप्त है। वे जन जन को विभिन्न संकटों से मुक्त करने की क्षमता रखते हैं, इसलिए लोक जीवन में उनकी "संकटमोचन" संज्ञा सर्वप्रथित है। इस प्रकार, अपनी गुणातिशयता के कारण ही वे सदा से लोकाराध्य बने हुए हैं। प्रस्तुत लेख में, अतुलितबलधाम हनुमान के व्यक्तित्व वैशिष्ट्य के सन्दर्भ में, लब्धकीर्ति अपभ्रंश-कवि स्वयम्भू की प्रसिद्ध रामायण "पउमचरिउ" के आधार पर नातिदीर्घ चर्चा उपन्यस्त है।

स्वयम्भू कवि (आठवीं-नवीं शती) के अनुसार, चैत्रमास के कृष्णपक्ष की श्रवण-नक्षत्र-युक्त अष्टमी की रात्रि के अन्तिम प्रहर में पवनंजय की पत्नी अंजना ने हनुमान को जन्म दिया था। नवजात शिशु के हाथ-पैर में हल, कमल, वज्र, मछली आदि के शुभचिह्न अंकित थे। फलित ज्योतिष के अनुसार, ये चिह्न किसी शिशु के भावी महिमाशाली राजोचित जीवन के संकेतक माने जाते हैं। कहना न होगा कि प्रतापी हनुमान ने अपनी रागानुगा भक्ति से अपने परम सेव्य मर्यादापुरुषोत्तम राम (पदम-पउम) को भी वशंवद बना लिया था और स्वयं "वानराधीश" पदवी को अलंकृत किया था। साथ ही, हनुरुह द्वीप में लालन-पालन होने के कारण ही उनका हनुमान नाम पड़ा था।

"पउमचरिउ" के रचयिता महाकवि स्वयम्भू ने हनुमान को भटश्रेष्ठ के रूप में स्मरण किया है, साथ ही उन्हें जाज्वल्यमान किरणों से उद्भासित तरुण सूर्य कहा है। हनुमान की पूँछ बड़ी मायामयी थी, जिससे प्रचण्ड पराक्रमी शत्रु भी भयकम्पित रहते थे, "पउमचरिउ" के हनुमान की ध्वजा में उनका अपना ही रूप चित्रित था। राम जानते थे कि हनुमान जिसके पक्ष में रहेंगे, विजयलक्ष्मी उसी को प्राप्त होगी। सच पूछिए तो राम की सेना में "बलवान्" शब्द को अन्वर्थ करनेवाला यदि कोई था, तो वह हनुमान ही थे, दूसरा कोई नहीं।

पवनपुत्र हनुमान के हनुरुहद्वीप में निवास करने के कारण वह द्वीप धरती पर अवतीर्ण स्वर्ग के एक खण्ड की तरह प्रतीत होता था। हनुरुह द्वीप मे रहनेवाले हनुमान शिशिरकालीन नयनानन्दकारी दिवाकर की भाँति सबकी आँखो के प्रिय थे। किन्तु, जब वह क्रुद्ध होते थे, तब गज की तरह निरंकुश, सिंह की तरह रोषपूर्ण और शनि की तरह भयावह बन जाते थे। वह सूर्य की भाँति दुर्निवार, यम के समान निष्ठुर-दृष्टि, अष्टमी के चन्द्रमा की नांईं वक्र एवं बुद्धि में बृहस्पति के समान थे। उनके कुपित होने पर राम लक्ष्मण भी विस्मित हो उठते थे। फडकती हुई लाल आँखोवाले हनुमान का दर्पदीप्त व्यक्तित्व उपमा-प्रयोग-पटु स्वयम्भू कवि की अनुकूल काव्य भाषा मे द्रष्टव्य है :

समुट्ठिओऽरिमद्दणो । समीरणस्स णंदणो ।।
पलंबबाहु पंजरो । णिरंकुसोव्व कुंजरो ।।
महीहरस्स उप्परी । विरुद्धउ व्व केसरी ।।
फुरंतरत्त लोयणो । सणि व्व सावलोयणो ।।
दुवारसो व्व भक्खरो । जमो व्व दिट्ठिणिट्ठुरो ।।
विहि व्व किंचिवुट्ठिओ । ससि व्व अट्ठमोट्ठिओ ।।
विहप्फइ व्व जम्मणे । अहि व्व कूर कम्मणे ।। पउमचरिउ, 45.8.3-9

"पउमचरिउ" के अनुसार राम के हृदय मे हनुमान के प्रति अत्यधिक सम्मान की भावना रहती थी। यही कारण था कि वे हनुमान को अपने आधे आसन पर बैठाते थे। आसन की एक ओर हनुमान और दूसरी ओर स्वयं राम जब बैठते, तब वे दोनों मनमोहक बसन्त और कामदेव की तरह शोभित होते थे। स्वयम्भू कवि ने राम के मुख से हनुमान की प्रशंसा में ये शब्द कहलवाये हैं, "आज ही मेरा मनोरथ सफल हुआ है, आज ही मेरा भाग्योदय हुआ है, आज ही मेरी सेना प्रचण्ड हुई है, क्योंकि आज ही चिन्तासागर मे पड़े हुए मुझे हनुमानरूपी नाव मिली है। पवनपुत्र के मिल जाने पर मुझे त्रिलोक ही मिल गया है। शत्रु की सेना में हनुमान का भार कोई भी धारण नहीं कर सकता।"[1]

अपनी प्रशंसा सुनने के बाद हनुमान ने राम के प्रति अपनी विनय-भावना को अपने शौर्य के परिवेश में जिस प्रकार उपस्थित किया है, उससे उनकी रामभक्ति की हृदयावर्जक सहजता व्यक्त होती है, "हे देवदेव ! इस वसुन्धरा में बहुत से रत्न हैं। यहाँ सिंहों में भी सिंह हैं। यहाँ जाम्बवन्त, नल, अंग और अंगद निरंकुश मत्त मदगज की तरह हैं, सुग्रीव, कुमार विराधित जैसे अतुलवीर जयलक्ष्मी का प्रसाधन करने वाले है, समुन्नतमान

गय और गवाक्ष आदि के अतिरिक्त और भी अनेकानेक सुभट-प्रधान हैं, इनमें मेरी गणना वैसी ही है, जैसी सिंहों के बीच कुरंग की। तब भी आपके विषम अवसर का निस्तार कर दूंगा। आदेश दीजिए, किसे मारूं? युद्ध में किसके मान-अहंकार को नष्ट कर विश्व में आपके यश का डंका बजाऊँ?[2]

सीता की खोज का आदेश मिलने पर लांगूलप्रहारी हनुमान की गर्वोद्‌घोषणा के शब्द द्रष्टव्य हैं, "देवदेव! जाऊँगा, पर यह कितना सा काम है? हे राघव! कोई बड़ा सा आदेश दीजिए जिससे रावण को यमपुरी भेज दूं और सीता को आपकी हथेली पर ला दूं।[3]

विमान में बैठकर हनुमान जिस समय सीता की खोज के लिए प्रस्थित हुए, उस समय का जो आलंकारिक वर्णन महाकवि स्वयम्भू ने उपस्थित किया है, उससे हनुमान के प्रभावशाली महामहिम व्यक्तित्व को बड़ी चारुता और सौन्दर्यमूलक बिम्बात्मकता प्राप्त हुई है।

"चन्द्रकान्त मणि की किरण-कान्ति से चमकते विमान पर समासीन हनुमान आकाश में रथ-सहित जानेवाले सूर्य की तरह भास्वर प्रतीत होते थे। उनका विमान चन्द्रशाला की भांति विशाल था। वह विमान घण्टा की ध्वनि से मुखरित हो रहा था। "घव घव" और "घर-घर" शब्द से अनुगुंजित विमान रुणझुण करती किंकिणियों के मधुर स्वर से झंकृत था। हवा में उडती सफेद ध्वजाओं के विस्तृत आटोप से वह विमान नाचता हुआ सा लग रहा था। वह छत्रदण्ड से उन्नत और श्वेत सुन्दर चामरों के भार से भासमान था। उसमे मणियों के झरोखे, छज्जे, किवाड़ और तोरणद्वार थे, एवं मणियों, प्रवालों तथा मोतियों के झूमर लटक रहे थे। मँडराते हुए भ्रमरों का समूह उस विमान को चूम रहा था।[4]

स्वयम्भू कवि ने हनुमान के युद्धवीर रूप का विन्यास बड़े मनोयोग से किया है। इस क्रम में कवि ने अपभ्रंश-भाषा की समृद्धि की पराकाष्ठा का प्रदर्शन किया है और उन्हे विजयलक्ष्मी से विभूषित, शत्रुसंहारक, शत्रुसेनाविध्वंसक, अस्खलितमान, सौभाग्य-राशि, सत्पुरुषरत्न, साक्षात् कामदेव, कन्दर्पदर्पदलनकारी, दृढ़विशालवक्षस्थल, प्रचण्ड बाहुदण्ड, तनुतेजपिण्ड आदि अनेक विस्मयकारी वीरोचित विशेषणों से विभूषित किया है।

हनुमान जिस समय रावण के उद्यान में वन्दिनी सीता की आज्ञा लेकर लंका से वापस जाने को उद्यत हुए, उस समय उनके मन में उद्यान को रौंद डालने का संकल्प उदित हुआ। हनुमान के वीरोचित संकल्प को कवि ने सातिशय चमत्कार उत्पन्न करनेवाली नामधातु-बहुल भाषा में काव्य-निबद्ध किया है। उदाहरण द्रष्टव्य है –

वणु भंजमि रसमसकसमसंतु। महिवीढ-गाढ विरसो रसंतु॥
णायउल विउल बुल-बलंतु। कवकुवलय-लर-खोरिणए खलंतु॥
णीसेस-वियम्भर-थरिमलंतु। कंकेल्लि-वेल्लि-लवली-ललंतु॥
तुंगंग-भिंग गुमगुमुगुमंतु। तड-तडण-भमभुमुमुमुमंतु॥

एला-कक्कोलय-कडयडंतु । वड-विडव-ताड-तडतडतडंतु ।।
करमर-करीर-करकरयरंतु । आसत्थागत्थिय-थरहरंतु ।।
मड्डड्ड-मड्ड सयखंड अंतु । सत्तच्छय-कुसुमामोय-दिंतु ।।

अर्थात् "अभी मैं रसमसाते कसमसाते वन को भग्न कर दूंगा, अनिष्ट ध्वनि करके धरती की पीठ को त्रस्त कर दूंगा, बड़ी बड़ी चोटियों वाले पर्वतों पर वृक्षों सहित धरती को खोद डालूंगा, समस्त दिशान्तरों को रौद डालूंगा, कंकोली और लवली लता को छिन्न-भिन्न कर दूंगा, गुनगुनाते भौरों की भीड़ से भरे पेड़ों को दुमदुमा दूंगा, इलायची और कंकोल को कड़कड़ा दूंगा, बट, विटप और ताड़ को तड़तड़ा दूंगा, करमर करीर को करकरा दूंगा। अश्वस्थ और अगस्त वृक्षों को थरथरा दूंगा। इसीप्रकार सप्तपर्णी-वृक्षों के बलपूर्वक सौ-सौ टुकड़े करके उनके फूलो की सुगन्धि को बिखेर दूंगा।"

पउमचरिउ 51.1.2-8

कहना न होगा कि स्वयम्भू कवि ने जिस समृद्ध प्रांजल भाषा में हनुमान द्वारा रावणोद्यान के ध्वस्त किये जाने की भयंकरता का रोमाचकारी वर्णन किया है, वैसा वर्णन प्राय: अन्य भाषाओं में दुर्लभ है। कवि स्वयम्भू एक ओर काव्य और आगमशास्त्र के पारगामी विद्वान् थे, तो दूसरी ओर उन्हें लोकजीवन का भी गम्भीर और प्रत्यक्ष अनुभव था। अतएव, उनकी काव्यभाषा में ग्रथनप्रौढि के साथ साथ सरसता, रुचिरता और भक्ति की तन्मयता की त्रिवेणी प्रवाहित है। प्रबन्ध कौशल से परिपूर्ण और प्रकृत चित्रण मे सिद्धहस्त कवि स्वयम्भू की उक्तियां चित्ताह्लादकारिणी शक्ति से सम्पन्न हैं। कवि ने अपनी उच्चतम प्रतिभा और गहन अध्ययन शक्ति के आधार पर हनुमान का जो रूप उपस्थित किया है, वह महतोमहीयान् है।

नागपाश में आबद्ध हनुमान ने रावण के दरबार मे उपस्थित होकर, सीता के सन्दर्भ में जिन शब्दो के द्वारा वर्जना की, उनसे उनकी परिष्कृत शास्त्रज्ञता का पूर्ण परिचय प्राप्त होता है। उनके द्वारा जिनशासन की बारह अनुप्रेक्षाओं के रूप में रावण से कही गई ज्ञान और वैराग्य की बातें पर्याप्त उद्बोधक है। एक दो उदाहरण :

"हे रावण ! शरीर अन्य है और जीव का स्वभाव अन्य। धन-धान्य और यौवन सब पराये हैं। घर के स्वजन परिजन भी पराये हैं। स्त्री भी अपनी नहीं होती, पुत्र भी पराया हो जाता है। इन सब के साथ मेल-मिलाप कुछ ही दिनों का होता है, फिर मरकर सब एकाकी भटकते फिरते हैं। लोग कार्यवश मुंह के मीठे और प्रियभाषी होते हैं। अपने इष्टदेव का धर्म छोड़कर इस जीव का और कोई भी अपना नहीं है।[5]

अपने प्रबोधन प्रवाह को जारी रखते हुए स्फुरिताधर हनुमान ने बड़े ही मार्मिक शब्दों मे रावण से कहा – "हे रावण, मैं स्नेहपूर्वक कह रहा हूँ, तुम इसे (परस्त्री को) असार समझो। अपने मन में संवर तत्त्व का ध्यान करो और परस्त्री से बचते रहो। त्रिभुवनलक्ष्मी के निकेतन हे रावण ! तुम संवर अनुप्रेक्षा सुनो। रागरहित होकर इस जीव को इस प्रकार रहना चाहिए कि इसे किसी तरह का कलंक न लगे। जो जिसका प्रतिद्वन्द्वी है, उससे उसकी रक्षा करो – काम से अकाम को, शल्य से अशल्य को, दम्भ से अदम्भ को,

दोष से अदोष को, पाप से अपाप को, रोष से अरोष को, हिंसा से अहिंसा को, मोह से अमोह को, मान से अमान को, लोभ से अलोभ को, अज्ञान से दृढ़ ज्ञान को, मत्सर से दर्पनाशक अमत्सर को, दुर्निवार वियोग से अवियोग को, अपथ से दुष्प्रवेश सत्पथ को और मिथ्यात्व से दृढ़ सम्यक्त्व को बचाओ, जिससे देहरूपी नगर नष्ट न हो जाय। हे नवनीलकमल-नयन रावण ! तुम यह सब जानो और जाकर राम को जनकसुता अर्पित कर दो।"[6]

इस प्रकार, स्वयम्भू कवि ने अपनी अपभ्रंश रामायण में हनुमान के जिस विराट् व्यक्तित्व की अवतारणा की है, उससे हनुमान की लोकोत्तर श्रेष्ठता का प्रतिपादन होता है। यही कारण है कि सीता के अनुसंधान के बाद, उनकी चूड़ामणि के साथ हनुमान के किष्किन्धा नगरी वापस आने पर स्वयं राघवसिंह राम ने बरगद की तरह विशाल हनुमान का अपनी भुजाओं से आलिंगन किया।

इस प्रकार, स्वयम्भू कवि ने अपनी अपभ्रंश रामायण मे हनुमान के जिस विराट् व्यक्तित्व की अवतारणा की है, उससे हनुमान की लोकोत्तर श्रेष्ठता का प्रतिपादन होता है। यही कारण हैं कि सीता के अनुसंधान के बाद, उनकी चूडामणि के साथ हनुमान के किष्किन्धा नगरी वापस आने पर स्वयं राघवसिंह राम ने बरगद की तरह विशाल हनुमान का अपनी भुजाओं से आलिंगन किया।

स्वयम्भू और तुलसी दोनो रामकथा के समर्थ भाषा कवि हुए हैं। यद्यपि इन दोनों के तथ्य, कथ्य और दार्शनिक मान्यताओ में बहुत अन्तर है, तथापि कई बातों में वे समान भी है। दोनों अपने अपने युग की पौराणिक भाषाओं मे लिखते है। अपनी अपनी विशेष परिधि में दोनों के विचार अतिशय उदार है। एक में राम जिनभक्त हैं, तो दूसरे में शिव-भक्त। एक मोक्षगामी हैं, तो दूसरे विशिष्टाद्वैत के प्रतीक। एक के राम साधारण मानवता से पूर्ण विकास की ओर बढ़ते हैं तो दूसरे में परमात्मा राम मनुष्य का अवतार ग्रहण करते हैं। दोनों रामायणों में कवि की भावनाओं के अनुरूप ही क्रमशः मानव और अतिमानव के प्रतीक रूप में हनुमान के व्यक्तित्व और कर्त्तव्य का विनियोग हुआ है किन्तु इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि रचना प्रक्रिया की दृष्टि से गोस्वामी तुलसीदास महाकवि स्वयम्भू के काव्य वैभव एवं भाषिकी गरिमा से पूर्णतः प्रभावित हैं।

---

[1] पउमचरिउ 45. 13.10; 45, 14, 1-2
[2] उपरिवत् 45.13.10; 45.14.2-9
[3] उपरिवत् 45.15.1-3
[4] उपरिवत् 46.1.1-7
[5] उपरिवत् 54.8.3-10
[6] उपरिवत् 54.13.1-10

अशरण भावना

जावेंहिं जीवहों ढुक्कइ मरणु । तावेंहिं जगें णाहिं को वि सरणु ।।
रक्खिज्जइ जइ वि भयङ्करेंहिं । असि-लउडि-विहत्थेंहिं किङ्करेंहिं ।।
मायङ्ग-तुरङ्गम-सन्दणेंहिं । कमलासण-रुद्द-जणद्दणेंहिं ।।
जम-वरुण-कुवेर-पुरन्दरेंहिं । गण-जक्ख-महोरग-किण्णरेंहिं ।।
पइसरइ जइ वि पायालयलें । गिरिगुहिलें हुआसणें उवहिं जलें ।।
रणें वणें तिणें णहयलें सुरभवणें । रयणप्पहाइ-बुगइ-गमणें ।।
मञ्जूसकूवें घरपञ्जरएँ । कढिज्जइ तो वि खणन्तरएँ ।।

घत्ता – तहिं असरणकालें जीव हों अण्ण ण का वि धर ।
पर रक्खइ एक्कु अहिंसालक्खणु धम्मु पर ।।

अर्थ–जब जीव का मरणकाल समीप आ जाता है तब उसे कोई भी शरण नहीं दे सकता चाहे तलवार, गदा हाथ में लेकर भयङ्कर किंकर, हाथी, घोड़ा, रथ, ब्रह्मा, रुद्र, जनार्दन, यम, वरुण, कुबेर, इन्द्र, गण, यक्ष, नागराज और किन्नर उसकी रक्षा करें। चाहे वह पाताल, गिरिगुफा, अग्नि, समुद्र के जल, रण, वन, तृण, आकाश, देवभवन, रत्नप्रभा नामक नरक, मंजूषा, कुवा या घर-रूपी पिञ्जरे में प्रविष्ट हो जाय तो भी क्षण भर में उसे निकाल लिया जाता है। उस अशरणकाल में जीव का कोई भी रक्षक नहीं है, केवल अहिंसा मूलक धर्म ही उसकी रक्षा कर सकता है।

– प० च० – 54.6.3-10

स्वयंभूदेव कृत पउमचरिउ में सीता का चरित्र

– डॉ० विमलप्रकाश जैन

☐

भारतीय वाङ्मय मे महर्षि वाल्मीकि के आदि महाकाव्य वाल्मीकि रामायण से लेकर 8वी शती में पउमचरिउ के कर्त्ता स्वयंभूदेव और उनके पश्चात् वर्तमान बीसवी शती में राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त के साकेत पर्यन्त व उसके पश्चात् भी राम व सीता के वृत्त को लेकर संस्कृत, पालि प्राकृत, अपभ्रंश, भारतीय लोक-भाषाओं, दक्षिण भारतीय भाषाओ एवं हिन्दी में अनेकानेक स्वतन्त्र महाकाव्य, खण्डकाव्य, पुराण, चरित और नाटक लिखे गये हैं। इनके अतिरिक्त अन्य पुराणों, महापुराणों, कथा व चरितग्रन्थों में भी राम सीता की कथा संक्षेप/विस्तार से उपलब्ध होती है। इनमें से प्रमुख रचनाएँ निम्नलिखित हैं –

संस्कृत काव्य – वाल्मीकि रामायण, व्यासकृत महाभारत (संक्षिप्तवृत्त) विष्णु-पुराण, वायुपुराण, श्रीमद्भागवतपुराण, कूर्मपुराण, देवीभागवत व कुछ उपपुराण[1] महाकवि कालिदास कृत रघुवंश, भट्टिकृत रावणवध (500-650 ई०), कुमारदास कृत जानकीहरण (650-750 ई०), अभिनन्द कृत रामचरित (9वीं शती), क्षेमेन्द्र कृत रामायण मंजरी (1037 ई०), साकल्यमल्ल कृत उदार राघव (14वीं शती), जानकी परिणय (16वीं शती), रामलिंगामृत (17वीं शती), रामविजय (18वीं शती) आदि।

खण्डकाव्यों में श्री रामाभ्युदय, सीता स्वयंवर, अध्यात्म-रामायण, अद्भुत रामायण, आनन्द रामायण, तत्त्वसंग्रह रामायण, मन्त्र रामायण, ब्रह्म रामायण आदि; रामकृष्ण विलोमकाव्य आदि स्फुटकाव्य[2] रामलीलामृत आदि चित्रकाव्य, राघवपाण्डवीय आदि श्लेषकाव्य[3] हंसदूत, भ्रमरदूत, आदि संदेश काव्य[4], चम्पूरामायण आदि चम्पूकाव्य[5] तथा नाटकों में प्रतिमानाटक, अभिषेकनाटक, उत्तररामचरित, अनर्घराघव, बालरामायण, मैथिलीकल्याण, उन्मत्तराघव, प्रसन्नराघव, हनुमन्नाटकादि[6] प्रसिद्ध हैं।

पालि जातकों में दशरथजातक, अनामजातक, तथा दशरथ कथा में रामायण की कथा संक्षेप में वर्णित है ।[7]

जैन वाङ्मय में विमलसूरि (तृतीय श०) के पउमचरियं से प्रारम्भ करके प्राकृत, संस्कृत व अपभ्रंश में निम्नलिखित प्रमुख रचनाएँ उपलब्ध हैं – प्राकृत – पउमचरियं, संघदास कृत वसुदेवहिण्डी (7वीं शती का प्रथम दशक या उससे पूर्व), रविषेणाचार्य कृत संस्कृत पद्मपुराण (678 ई०), स्वयम्भूदेव कृत अपभ्रंश पउमचरिउ (8वीं शती) शीलाचार्यकृत प्रा० चउपन्नमहापुरिसचरिय (878 ई०), गुणभद्रकृत सं० उत्तरपुराण (9वीं शती), हरिषेण कृत स० बृहत्कथाकोष (931-32 ई०) पुष्पदन्त कृत अप. महापुराणु (965 ई०) भद्रेश्वर कृत प्रा० कहावली (11वीं शती) हेमचन्द्राचार्य कृत सं० त्रिषष्टि-शलाकापुरुषचरित तथा रइधूकृत अप. पद्मपुराण (15वीं शती) आदि[8] । इनके अतिरिक्त जिनरत्नकोश में तीस अन्य जैन रचनाओं के नाम हैं जिनमें रामकथा वर्णित है[9] ।

विमलसूरि के पउमचरियं से लेकर रामकथा से सम्बद्ध सभी रचनाएँ कुछ अन्तर के साथ[10] मूलतः वाल्मीकि रामायण की ऋणी है । विस्तार भय से इन तथ्यों की चर्चा यहाँ नही की जा रही है । जैन रामायण के रचयिताओ में स्पष्टतः विमलसूरि सर्वप्रथम हैं । इनके पश्चात् उनकी कृति के आधार पर आचार्य रविषेण तथा स्वयम्भू द्वारा रचित कथानक मुख्य हैं । संघदासगणी, हरिषेण, गुणभद्र, पुष्पदन्त तथा हेमचन्द्र के कथानक इनसे कुछ भिन्न हैं । पर इनका मूल स्रोत भी वाल्मीकि रामायण है और पुष्पदन्त विशेष रूप से स्वयम्भू के अत्यधिक ऋणी हैं ।[11]

हिन्दी साहित्य में महाकवि तुलसीदास कृत रामचरितमानस सर्वप्रसिद्ध और घर-घर में प्रतिदिन गायी जानेवाली अनुपम व अद्वितीय रचना है ।[12]

इस लेख की परिसीमाओं में यह असंभव है कि स्वयम्भूदेव कृत 'पउमचरिउ' मे सीता के व्यक्तित्व और चरित्र की जैसी उद्भावना की गई है उसका वाल्माकि रामायण, पउमचरियं तथा पद्मचरित इन तीन प्रमुख रचनाओं से तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जा सके । वह एक बड़े, स्वतंत्र प्रबन्ध का विषय है । यहाँ हम केवल इतना संकेत कर सकते हैं कि 'पउमचरिउ' में सीता का चरित्र-चित्रण न केवल वाल्मीकि रामायण से अपितु समस्त जैन रामायण कथा-ग्रन्थो से भिन्न और मौलिक है । रविषेणाचार्य का स्पष्ट ऋण स्वीकार करते हुए भी (प. च. 1-2.9) और उनके कथानक का अनुकरण करते हुए भी स्वयम्भू की मौलिकता न केवल विभिन्न पात्रों के व्यक्तित्व वर्णन में अपितु उनके प्रकृति-वर्णन, मानवीय सौन्दर्य व उसकी भावनाओं/संवेगों/संवेदनाओं के मनोवैज्ञानिक चित्रण, सेना का प्रयाण, युद्ध, हर्ष, शोक एवं वैराग्य अर्थात् प्रकृति और जीवन के सभी व्यापार-व्यवहारों के चित्रण में आद्योपान्त पद-पद पर स्पष्ट झलकती है ।

पउमचरिउ में अयोध्याकाण्ड की 21वीं संधि से सीता का जीवन-वृत्त प्रारम्भ होता है ।

सीता विदेहराज जनक की पुत्री है । सीता के युवा होने पर राजा जनक ने निश्चय किया कि जो वज्रावर्त व समुद्रावर्त नाम के धनुषों पर प्रत्यंचा चढ़ा सकेगा उसी से

सीता का विवाह होगा। सीता-स्वयंवर हुआ। दशरथ पुत्र राम इस शर्त को पूरी कर सके। अतः पूर्व-निश्चय के अनुसार राम के साथ सीता का विवाह कर दिया गया। कुछ समय पश्चात् राजा दशरथ ने राम का राज्याभिषेक करके स्वयं वनगमन का निश्चय किया। कैकेयी को जब यह वृत्त ज्ञात हुआ तो ईर्ष्यावश उसने दशरथ से अपने पूर्व-प्रतिश्रुत दो वर मांगे जिनके अनुसार भरत को राज्य और राम को वनवास मिला। राम के साथ सीता व लक्ष्मण ने भी वन-गमन किया। वनवास में लंकाधिपति रावण ने छल से सीता का अपहरण कर लिया। पउमचरिउ में इस घटना के उपरान्त सीता के व्यक्तित्व का विकास प्रारम्भ होता है।

रावण द्वारा सीता का अपहरण और उनका करुण क्रन्दन सुन जटायु ने रावण पर अपनी शक्ति से भरपूर तीव्र प्रहार किये। अन्त में रावण ने उसे मार गिराया। जटायु के गिरते ही सीता ने जोर से क्रन्दन किया – रे रावण ! तू जो देवताओं के लिए भी दुर्जेय है, तूने यह क्या वीरता दिखलाई ? यह तो तेरी नपुंसकता है और उसकी कठोर व्यंग्यपूर्ण प्रशंसा करते हुए कहा–रावण तेरा सर्वनाश होगा। इस लोक में राघव मेरी एकमात्र शरण हैं और परलोक मे जिनेन्द्र (प. च. 38.14)। सीता के भाई भामण्डल के एक मित्र विद्याधर ने भी सीता की रक्षा का प्रयत्न किया। रावण ने उसकी विद्याएं छीनकर उसे भी पृथ्वी पर पटक दिया।

सीता पुनः पुनः राम-लक्ष्मण, माता-पिता व इष्ट जनों का नाम ले लेकर अत्यन्त करुण क्रन्दन करने लगी (प. च. 38.15)। समुद्र के मध्य में पहुँच रावण ने सीता का आलिंगन करने का प्रयत्न किया। तब सीता ने रावण की कठोर भर्त्सना की – हे रावण ! थोड़े ही दिनों मे तू युद्ध मे विजित होगा और मैं नहीं राम के बाण तेरा आलिंगन करेंगे (प. च. 38.15)।

सीता की निष्ठुर भर्त्सना पाकर रावण निराश हुआ। सोचा – इसको मारने से कोई प्रयोजन नहीं और स्वेच्छा से मुझे स्वीकार न करनेवाली परनारी से बलात्कार न करने की मेरी अटूट प्रतिज्ञा है। अतः अब समय की प्रतीक्षा करना ही एक उपाय है।

लंका का वृत्त :

सीता ने लंकानगरी में प्रवेश करना अस्वीकार किया। बाध्य होकर रावण ने उन्हें लंका के बाहर समीपस्थ नन्दनवन में छोड़ दिया। सीता एक वृक्षमूल में बैठ रहीं और राम का वृत्त न मिलने तक आहार त्याग कर दिया।

रावण ने सीता को मनाने के लिए मन्दोदरी को किसी न किसी तरह अपना दौत्य-कर्म करने के लिए तैयार करके सीता के पास भेजा। मन्दोदरी भी सीता का सौन्दर्य देखकर ठगी रह गयी। उसने प्रथमतः रावण की अतिशय प्रशंसा और पुनः नाना प्रकार का भय दिखलाकर सीता को मनाने का व्यर्थ प्रयत्न किया (प.च. 41.9.11)।

मन्दोदरी के सर्वथा अयोग्य/अकथ्य कटुवचन सुनकर सीता बोली – अरे ! तुमने यह क्या कहा ? उत्तम नारी को ऐसे वचन कहना योग्य नहीं। अपने पति का दौत्य करने

आई हो ? इससे मुझे हंसी आ रही है। क्या तुम पर-पुरुष लोभी हो जो मुझे ऐसी दुर्बुद्धि देने आई हो। उस जार (रावण) के सिर पर वज्र पड़े। मैं अपने पति के प्रति एकनिष्ठ हूँ। सीता के ऐसे वचन सुन मंदोदरी सहम गयी, फिर भी उसे टुकड़े-टुकड़े करके मार डालने की धमकी दी। तब सीता ने कहा–बार-बार क्या कहूँ ? जो मन में आये सो करो, आरे से काटो या शूल पर चढ़ाओ, जलती हुई आग में फैंक दो, या महागज के दांतों के बीच डाल दो, तो भी पापी रावण से मुझे सर्वथा निवृत्ति है। पुनः राम की प्रशंसा करते हुए बोलीं – तुम जैसी कुनारियों के लिए वह दुर्लभ है। वह राघवसिंह अपने धनुष बाण से रावण रूपी मत्तगज को शीघ्र ही चीर डालेगा (प.च. 41.13)।

इतने में रावण स्वयं वहाँ आ गया और नाना प्रकार से आत्मप्रशंसा करने लगा – मुझ में किस बात की कमी है ? सीता ने रावण की कठोर निर्भर्त्सना करते हुए कहा – रे रावण ! तू यहाँ से हट जा। तू मेरे लिए पिता के समान है। युद्ध में सर्वनाश के पूर्व ही तू रामचन्द्र के चरणों की शरण ले (प.च. 41.14-15)। इस पर रावण ने सीता को सब प्रकार भयभीत करके वश में करने का प्रयत्न किया। राक्षसियों ने सीता पर नाना प्रकार के उपसर्ग किये। सीता सारे उपसर्ग निवारण होने तक सब प्रकार के आहार-पान का त्याग करके धर्मध्यान में लीन हो गयीं। (प.च. 41.16-17)।

नन्दनवन में सीता का करुणक्रन्दन सुन सारी राजसभा के मध्य विभीषण रावण का मुँह देखकर बोला – रावण ! मुझे लगता है यह तेरा ही कुकृत्य है। विभीषण के ऐसे वचन सुनकर सीता को बहुत धैर्य हुआ। इन दुर्जनों के बीच यह कौन धर्मबन्धु सज्जन है जो मुझे धैर्य बंधा रहा है (प.च. 41 18)।

विभीषण ने पटान्तर से सीता को निर्भय होकर अपना परिचय देने और सारा वृत्त बताने को कहा। सीता ने सब बताकर निवेदन किया – मुझे किसी प्रकार रामचन्द्रजी के पास पहुँचा दीजिये। विभीषण को मुनियों की भविष्यवाणी और सारा पूर्ववृत्त स्मरण कर निश्चय हो गया कि सीता के कारण राम लक्ष्मण के द्वारा रावण का वध अवश्य होगा (प.च. 42.1-6))। विभीषण ने रावण को समझाने का पुनः व्यर्थ प्रयत्न किया। रावण ने सीता को पुष्पक विमान में बैठाकर सजी हुई लंका की महादेवी बनाने/फुसलाने का प्रयत्न किया। तब सीता ने कहा – मुझे अपनी ऋद्धि/समृद्धि क्या दिखलाता है ? जिसमें चरित्र भंग होता हो ऐसे स्वर्ग से भी क्या ? शील ही सबसे बड़ी सम्पत्ति/सर्वश्रेष्ठ आभूषण है (प.च. 42.6)।

अब रावण के मन में कुछ पश्चात्ताप का भाव उदित हुआ – यह मुझे क्या हो गया है ? जो भाग्य में है, जितना ललाट में लिखा है, वह बढ़ेगा नहीं, अधिक मिलेगा नहीं। मैं क्यों सीता के मोह में पड़ गया ?

इधर सीता का पता लगाकर हनुमत् लंका पहुँच गये। उन्हें विभीषण का पूरा सहयोग और राम के साहाय्य का आश्वासन मिला (प.च. 49.1-7)।

हनुमत् ने नन्दनवन में राम के वियोग में अत्यन्त दुःखी, कृश व दुर्दशाग्रस्त सीता को देखा और अपने को गुप्त रखते हुए सीता की गोदी में राम द्वारा प्रदत्त हस्तमुद्रिका

डाल दी। सीता इस मुद्रिका को देखकर प्रसन्न हुई। राक्षसियों ने इसे अन्यथा समझा। मन्दोदरी समस्त अन्तःपुर सहित वहाँ जाकर सीता की चाटुकारी करने लगी। तब सीता बोलीं – यदि रावण धर्म का पालन करे, मुझे वापस रामचन्द्र को ले जाकर सौंपे, तो मैं उसका सम्मान करती हूँ। यदि नहीं, तो मै चाहती हूँ कि वह लंका समुद्र में फैंक दी जाये, यह नन्दनवन नष्ट-भ्रष्ट कर दिया जाय, यहाँ सर्वनाश हो जाय, यह सब पाताल में गर्त हो जाय, रावण युद्ध मे राम के बाणों से तिल-तिल कर नष्ट हो और युद्ध में यहाँ कुछ शेष न रहे। यह राम की मुद्रिका आ गयी है जो मेरे मनोरथों की पूर्ति और तुम्हारा सर्वनाश करेगी (प.च. 49.8.15)। इस पर मन्दोदरी सीता को रावण का/मृत्यु का भय दिखलाकर सीता पर शस्त्रों से प्रहार करने को उद्यत हुई। सीता अपने शील के बल से निर्भय/निष्कम्प रही। तब हनुमत् अपने मन में सीता की प्रशंसा कर ऊपर से कूद पडे। मन्दोदरी से हनुमत् का कटु वाद-विवाद हुआ। हनुमत् ने सीता को करबद्ध प्रणाम किया (प.च. 49.16-20)।

हनुमत् को देख और राम-लक्ष्मण का कुशल वृत्त जान सीता को सन्तोष हुआ। फिर भी अपने विवेक से हनुमत् से विस्तार-पूर्वक उसके वहाँ पहुँचने तक का सारा वृत्त पूछकर सीता का सन्देह दूर हुआ और विश्वास हुआ कि यह कोई छल नहीं है। हनुमत् ने सीता को अपने कन्धो पर बैठाकर रामचन्द्र के पास ले चलने का प्रस्ताव किया। सीता ने कहा – "यह उचित नही है। कुल-वधू के लिए अपने मातृगृह भी पति के बिना जाना अनुचित है। इससे लोकनिन्दा होगी। मुझे रावण के मारे जाने पर जय-जयकार के उद्‌घोषों के बीच राम के साथ ही जाना चाहिये। ऐसा कह हनुमत् को शुभाशीष, राम के लिए अपना चूड़ामणि और अपनी दशा का वृत्त कहकर तथा लक्ष्मण के लिए यह सन्देश देकर कि "यद्यपि राम युद्ध में इन्द्रादिकों के द्वारा भी अजेय हैं तथापि रावण का वध तुम्हारे ही भुजबल से होना है, हनुमत् को विदा किया (प.च. 50.1-13)। हनुमत् सारे नन्दन-वन को नष्ट-भ्रट करके, रावण को समझाने का व्यर्थ प्रयत्न करके, अन्ततः सारी लंका का विध्वंस करके, रावण को उसके सर्वनाश और मृत्यु की चेतावनी देकर व सीता के पुनः दर्शन कर, सकुशल राम-लक्ष्मण के पास लौट गये। हनुमत् के विवेकपूर्ण, धिक्कार और सद्‌वचनों से रावण को क्षणिक अन्तर्द्वन्द्व हुआ – जानता हूँ, पर-स्त्री/पर-द्रव्य का हरण करने वाले को सुख नहीं होता। फिर भी मैं भले ही नरक में पडूँ, और सीता को न लौटाने से जो होना हो सो हो (प.च. 51.1, 55.7)।

हनुमत् से सीता का चूड़ामणि प्राप्त करके व अन्य सारा वृत्त ज्ञात कर राम लक्ष्मण ने समित्र/ससैन्य लंका की ओर प्रयाण किया। वहाँ पहुँचने पर कई दिनों तक भयानक युद्ध होता रहा। अन्तत रावण ने लक्ष्मण पर शक्ति प्रहार किया। राम और स्वपक्ष के सभी वीर सुग्रीव, हनुमत्, भामण्डल, विभीषण, अंग, अंगद आदि शोक में पड़ गये। राम करुण रुदन करने लगे और मूर्च्छित हो गये (प.च. 55.8 से 67.5)।

किसी ने कटु व्यंगपूर्वक लक्ष्मण को शक्ति लगने की वार्ता सीता को सुनायी और कहा – अब भी रावण को स्वीकार कर ले, कुमार लक्ष्मण का जीवित रहना अब दुष्कर है (प.च. 67.6)।

यह वृत्त जानकर सीता शोकमग्न होकर करुण क्रन्दन करने लगीं – हाय रे दुर्दैव ! लक्ष्मण का अन्त हो और रावण छूट जाये । मेरा यह हृदय फट क्यों नहीं जाता ? अरे शिरच्छिन्न, दुःखद कृतान्त तेरा क्या मनोरथ पूर्ण हुआ ? तेरी कौन सुन्दरी है कि लक्ष्मी को वैधव्य प्राप्त हुआ ? हाय क्यों लक्ष्मण को प्रेषित किया ? कुल-वधू विजयलक्ष्मी ने उसे कैसे छोड़ दिया ? हाय लक्ष्मण ! तेरे बिना पृथ्वी सूनी है । हे युद्धप्रवर लक्ष्मण ! तूने राघव को अकेले कैसे छोड़ दिया ? त्रिभुवन में मेरे जैसी दु:खी और कोई नहीं होगी । ऐसा कहती हुई सीता धाड़ दे-देकर रुदन करने लगी (प. च. 67.6-7) ।

इधर राम ने भीष्म प्रतिज्ञा की कि अब देवेन्द्र भी रावण को नहीं बचा सकते और कल यदि कुमार लक्ष्मण के अस्त होने पर रावण एक क्षण भी जीवित रह गया तो मैं जीवित ही अग्नि मे प्रवेश कर जाऊँगा (प. च. 67.18) ।

इधर रावण ने बहुरूपिणी विद्या सिद्ध करली और सीता को नाना प्रकार से डराने लगा – अब कौन तुझे बचा सकता है ? राम, लक्ष्मण, सुग्रीव, भामण्डल या हनुमत् कौन क्या कर लेगा ? मैंने सबको वश मे कर लिया है । अब मैं राम को भी मार डालूँगा । अब तू उनके जीने की आशा छोड़ दे । मेरे विमान में आरूढ़ हो साज-सज्जा कर मुझे स्वीकार कर अब तक जो तू छूट गयी है, मेरे व्रत की गुरुता के कारण कि चाहे तिलोत्तमा हो या रम्भादेवी, जो मुझे नहीं चाहेगी, उसे मैं बलपूर्वक नही लूंगा आदि । इस बीच त्रिजटा ने सीता को रावण द्वारा बहुरूपिणी विद्या सिद्ध करने की बात बतला दी (प. च. 73.8-10) । अत: इस विद्या के कृत्यों को जानकर सीता भयभीत नहीं हुई अपितु उन्हें विश्वास हो गया कि अवश्य राम-लक्ष्मण की ही विजय होगी । फिर भी शंकित होकर बोलीं – रे दशमुख ! मैं राम के बिना एक क्षण भी जीवित नही रहूँगी; जहाँ दीपक वही शिखा; जहाँ अनंग वही रति, जहाँ स्नेह वहीं प्रणय, जहाँ धर्म वहाँ दया, जहाँ राम वही सीता,····और ऐसा कहते-कहते मूर्च्छित हो गयी (प. च. 73.11) ।

सीता को मूर्च्छित देख रावण को अपने कुकृत्यों पर पश्चात्ताप हुआ । उसने स्वयं से कहा – **तृण, पाषाण, लौह-पिण्ड या शुष्क-तरु होना अच्छा परन्तु निर्गुण और व्रतहीन ऐसा, पृथ्वी पर भारस्वरूप मनुष्य होना अच्छा नहीं** । तब वह नारी-निन्दा करने लगा और उसने सोचा – जिस प्रकार इन्द्र व्यवहार करता है उस प्रकार मैं युद्ध मे राम-लक्ष्मण को बाँधकर, प्रात:काल ही सीता को उन्हें समर्पित कर दूंगा जिससे मैं लोगों मे सचमुच परिशुद्ध/पवित्र माना जाऊँगा (प. च. 73.12-13) ।

मन्दोदरी और रावण का पुन: प्रचण्ड वाद-विवाद हुआ, पर रावण संधि के लिए प्रस्तुत नहीं हुआ (प. च. संधि 74-75) ।

अन्तत: रावण ने जो चक्र लक्ष्मण पर चलाया था, वह चक्र लक्ष्मण का वध न करके हाथों में चला गया और उसी चक्र से लक्ष्मण ने रावण का वक्षस्थल विदीर्ण कर दिया (प. च. 76.21-22) ।

भ्रातृ-वियोग में शोक-मग्न विभीषण और मन्दोदरी आदि रानियों और रावण के पुत्रों को राम ने धैर्य बँधाया ।

सूर्योदय होने पर विभीषण वस्त्राभरण लेकर जानकी के पास नन्दनवन गये। जानकी ने उन वस्त्राभरणों की ओर देखा तक नहीं और कहा – यदि मन उन्मन और मलिन है तो यह सब केवल मल है। अपने पति को मिलने वाली कुलवधू के लिए शील ही उसका एक मात्र प्रसाधन है। यदि मैं निर्भय/निःसंकोच होकर यहाँ से तुम्हारे साथ जाऊँ, तो फिर हनुमत् के साथ ही क्यों नहीं चली जाती ? कुलवधू के लिए तो पति के बिना मातृगृह जाने में भी दोष ही है (प. च. 78.5-6)।

महासती सीता के ऐसे वचन सुनकर विभीषण रामचन्द्र के पास गये और निवेदन किया कि लंकाप्रवेश के पूर्व जानकी से मिलें और उन्हें विरहमहानदी से पार करें। विभीषण के इस निवेदन पर राम-लक्ष्मण दोनों सीता के पास गये, मानो श्रीदेवता के अभिषेक के लिए दोनों दिग्गज मिले हों (प. च. 78.6)।

मैथिली को रघुपति से मिलकर जितना सुख हुआ, इन्द्र को इन्द्रत्व पाकर भी उतना सुख हो या न हो (प. च. 78.6)।

लक्ष्मण ने वनवास की अवधि में अपने पराक्रम से अर्जित सभी वधुओं सहित सीता महादेवी को प्रणाम किया और बोले – महादेवी, हमने जो कुछ किया, सब कुछ तुम्हारे ही प्रसाद से। तुम्हारे सतीत्व से हमारा कुल धवल हो गया। (प. च. 78.8)।

विभीषण आदि सभी के आग्रह से लंका में छह वर्ष तक सीता सहित सुख-पूर्वक रहकर, नारद-मुनि से माँ कौशल्या के पुत्र-विरह में निरन्त शोकमग्न रहने का समाचार पाकर सब लोग विमानों द्वारा अयोध्या के लिए रवाना हो गये। मार्ग में राम सीता को अपने वनवास-जीवनवृत्त से जुड़े हुए स्थलों को दिखाते चले (प. च. 78.8-20)।

अयोध्या पहुँचने पर भरत व शत्रुघ्न ने राम-लक्ष्मण-सीता का ससैन्य, सब राजाओं व सामन्तों सहित स्वागत किया। भरत ने कुछ दिनों पश्चात् सबके बहुत मनाने पर भी राम का राज्याभिषेक, लक्ष्मण को मन्त्री और महादेवी सीता को अग्रमहिषी का पद देकर वैराग्य ले लिया (प. च. 79.1-13)।

राम के प्रजारंजनपूर्वक राज्य करते समय एक दिन प्रजाजनों ने राजसभा में आकर विनम्र निवेदन किया – देव ! दुश्चरित्र महिलाएं अपने कुकर्म के लिए जानकी के एक वर्ष रावण के यहाँ रहने के बाद महाराज के द्वारा स्वीकार करने की दुहाई देती हैं (प. च. 81.3)।

राम यह सुनकर ऐसे हो गये जैसे किसी ने सिर पर मुद्गर का प्रहार किया हो। उन्होंने लोक-स्वभाव का चिन्तन किया – जो दुर्गुणों को ग्रहण करता है, छिद्रान्वेषी होता है, गुणों को नहीं देखता। वह यदि कोई सती, कोई राजा उन्हें न भाए तो अवश्य ही कोई कलंक लगा देता है। अग्नि के समान अविनीतजन प्रत्यंचा से छूटे लौह-बाण के समान, धर्म से च्युत और बींधने के स्वभाव वाले होते हैं। यदि प्रजा किसी प्रकार निरंकुश हो जाये तो हस्तिसमूह का अनुकरण करती है जो ग्रास देनेवाले और जल दिखलानेवाले का भी प्राण हरण कर लेती है (प. च. 81.4)। अतः सीता का जाना अच्छा, लोगों का विरोध लेना अच्छा नहीं। यद्यपि अपने स्नेह से बद्ध महासती मेरे मन

को अभिभूत करती है तथापि यह लांछन कौन हटा सकता है कि वह एक वर्ष रावण के घर में रही (प. च. 81.5) ?

राम के इस विचार पर लक्ष्मण को बहुत क्रोध आया – कौन उस महासती पर लांछन लगाता है ? मैं उसका सिर काट लूंगा – आदि।....और नाना प्रकार से तर्क किया कि आज तक इक्ष्वाकुवंशियों द्वारा निरन्तर प्रजारंजन किये जाने का यही परम-फल मिला है क्या (प. च. 81.6-7) ?

राम ने लक्ष्मण को समझाया – प्रजा चाहे दुर्मति हो, तो भी पालनीय है। अब जानकी चाहे मरे, चाहे जीये, जो भी हो, जानकी को वन में छोड़ना है। राम ने सेनापति को आदेश देकर सीता को वन में छोड़ आने को भेज दिया। माताएं धाड़ मारकर रो पड़ीं। नागरिकों ने राम को धिक्कारा – पिशुनों के कारण घर का नाश हो गया। राम ने यह अयुक्त कार्य किया। हाय रे दुष्ट भाग्य ! तूने इन्हें पुनः वियोजित कर दिया (प. च. 81.9)।

सूत सेवाकर्म की जघन्यता, अपनी विवशता व राम का आदेश बताकर सीता को घनघोर हिंस्र पशुओं से भरे जंगल में छोड़कर अयोध्या की ओर लौट चला (प. च. 81.10-11)।

वन में अकेली छोड़ देने पर सीता मूर्च्छित हो गईं। वे धाड़ मारकर भामण्डल, लक्ष्मण, शत्रुघ्न, पिता जनक व माता आदि का नाम ले लेकर अति करुण, शोकाकुल क्रन्दन करने लगीं (प. च. 81.11-12)।

जानकी सूर्य, वनस्पति, आकाश, पृथ्वी, वरुण व पवन सबको विविध घटनाओं के साक्ष्य से अपने सतीत्व का प्रमाण देने लगीं। अन्त में कहा – यदि मैं सती होते हुए भी मर गई तो तुम सबको स्त्री-हत्या लगेगी। पिशुनों के कारण दुष्परिणाम होकर राम ने निष्कारण मुझे छोड़ दिया।

सीता जब इस प्रकार वन में अकेले दारुण-विलाप कर रही थीं, **राम के बहनोई विद्याधर वज्रजंघ** उधर आ निकले। वे सीता का परिचय प्राप्त करके, उससे सारा वृत्त लेकर और अपना परिचय देकर सीता को अपने घर ले गये। वहाँ उन्हें अपनी बहिन की तरह रखा (प.च. 81.13)।

उचित समय पर सीता के दो महातेजस्वी, रूपवान् युगल पुत्रों लवण व अंकुश का जन्म हुआ। युवा होकर उन्होंने अनेक राजाओं को जीता। एक बार नारद मुनि से अपना व माँ का पूरा वृत्त जानकर उन्होंने अयोध्या पर चढ़ाई कर दी। भयंकर युद्ध हुआ। राम-लक्ष्मण के कोई शस्त्र, यहाँ तक कि लक्ष्मण का चक्र भी उन कुमारों पर नहीं चला। तब नारद मुनि ने ही राम-लक्ष्मण को कुमारों का परिचय दिया। वहाँ अत्यन्त मार्मिक हर्षोल्लास का वातावरण बन गया (प.च. संधि 82)।

कुमारों को महोत्सवपूर्वक अयोध्या प्रवेश कराया गया। सबने आग्रह किया कि कोई परीक्षा करके परमेश्वरी सीता को घर ले आया जाय। तब राम ने कहा – मैं सीता के सतीत्व, तप, आराधना, गुण, व्रत, सम्यक्त्व, सम्बन्धीजन, इन सबके विषय में जानता हूँ।

लवणांकुश की माता, जनकपुत्री, राज्य की स्वामिनी, मेरी सेवा करने वाली और मेरे सुख का हेतु, ऐसी सीता के सम्बन्ध में मुझे सब कुछ विदित है। परन्तु यह तो लोकापवाद, मेरे घर में हाथ उठाकर लोगों ने लगाया है, इसको नहीं जानता कि इसका क्या करूं (प.च. 83.1-3) ?

त्रिजटा और लंकासुन्दरी दोनों को बुलाकर सीता के सतीत्व का साक्ष्य दिलाया गया। कोई स्वयं अग्नि को ही क्यों न दग्ध करदे, पवन को पोटली में बांध ले, आकाश पाताल में चला जाय, काल अवरुद्ध हो जाय, स्वयं कृतान्त का मरण हो जाय, अर्हन्त का शासन नष्ट हो जाय, सूर्य पश्चिम में उदित हो जाय, सागर मेरुशिखर पर जा बसे, यह सब सम्भव है परन्तु सीता के शील का मलिन होना सम्भव नहीं। इस पर भी विश्वास न हो तो तुला, चावल, विष, जल व अग्नि किसी से भी दिव्य-परीक्षा ले ली जाय (प.च. 83.4)।

तब विभीषणादि विमान द्वारा सीता को लेने गये। सीता उनसे अपना अतिशय दुःखपूर्ण रोष प्रकट करते हुए गद्गद् स्वर में बोलीं – मैं उस निष्ठुर हृदय राम को जानती हूँ, जिसे किसी भी प्रकार तृप्ति नहीं है, जिसने मुझे, रोती हुई को ऐसे वन में छुड़वा दिया जो डाकिनी, राक्षस व भूतों से भयंकर है, जहाँ शार्दूल, सिंह और गजसमूह, प्रचण्ड बर्बर शबर और पुलिन्द, तक्ष, रीछ, सांवर, सर्प, खग, मृग, शृगाल और शूकर घूमते हैं, जहाँ मनुष्य को जीते जी नोच लिया जाय; जहाँ भाग्य और कलिकाल भी प्राण छोड़ दे। अब उनके विमान से मुझे क्या ? दुर्जनों के कथन के बहाने उन्होंने जो दाह उत्पन्न किया है, वह शत-मेघों की वर्षा से भी शान्त नहीं होगा। यद्यपि रामचन्द्र से मुझे कोई कार्य नहीं है, फिर भी तुम्हारी इच्छा से चलती हूँ। अयोध्या पहुँचने पर सबने देवी का सत्कार किया और श्रेष्ठ आसन पर बैठाया (प.च. 83.5-7)।

प्रिया की कान्ति/तेज देखकर राम ने हंसकर सीता से कुछ कठोर शब्द कहे।

अपने सतीत्व के स्वाभिमान और तेज से सीता, राम के वचनों से रंचमात्र भी भयभीत/विचलित नहीं हुई और बोलीं – पुरुष मरती हुई स्त्री का भी विश्वास नहीं करते। खड़ और लक्कड़ को अपने जल में बहाती हुई, पुराण कुल में उत्पन्न नर्मदा नदी को भी सागर अपना खारापन देने से नहीं चूकता (प.च. 83.8)। श्वान की कोई गणना नहीं, वह भी गंगा में नहाता है। चन्द्रमा सकलंक होता है फिर भी पथ को निर्मल करता है। मेघ काले होते हैं फिर भी विद्युत् उज्ज्वल होती है। पत्थर अपूज्य होता है, उसे कोई छूता भी नहीं किन्तु उसी की प्रतिमा की चन्दन से अर्चना की जाती है। पंक पैर में लग जाये तो धोया जाता है, लेकिन उसमें उत्पन्न कमल की माला भगवान् को पहनायी जाती है। दीपक स्वभाव से काला होता है पर बाती की शिखा से आलय सुशोभित होता है। नर-नारी में इतना बड़ा अन्तर है कि मृत्यु पर भी बेल तरु को नहीं छोड़ती। आपने मुझ सती-पताका को सामने खड़ी देखकर क्या बोल कहे ? आप विश्वस्त होकर देखते रहो, यदि अग्नि दहन करने में समर्थ हो तो मुझे जला दे। अन्य दिव्य-परीक्षा से क्या प्रयोजन यदि आप मेरे प्रति मन से शुद्ध नहीं हुए ? अग्निदाह के उपरान्त जिस प्रकार स्वर्ण की

ढली चमकती है वैसे ही मैं अग्नि के मध्य रहूँगी। (प.च. 83.9)। सीता के ऐसे वचन सुनकर सभी प्रसन्न हुए केवल हृदय में कलुष होने से एक रघुपति नहीं (प.च. 83.10)।

सीता ने सदर्प जो कुछ कहा, राम ने उसका समर्थन किया। तीन सौ हाथ गहरा चतुष्कोण भयावह अग्निकुण्ड तैयार किया गया। स्वर्ग के देव भी अग्निपरीक्षा देखने आये। परमेश्वरी सीता उस अग्निकुण्ड पर ऐसे चढ़ गईं जैसे अपने व्रत/शीलों के ऊपर। अरे देवताओ! मेरा सतीत्व और राघव की दुष्टता देखिये। हे वैश्वानर! तू भी जल जायेगा पर यदि मैं अपराधिनी होऊँ तो मुझे क्षमा मत करना (प.च. 83.11)।

सीता उस अग्निकुण्ड पर आरूढ़ होकर अपने सतीत्वबल से अप्रकम्पित रह बोलीं – रे अग्नि! आ-आ, यह देह गुणों का निधान है। यदि तू सचमुच अग्नि है तो इसे जला दे। यदि मैंने जिनशासन छोड़ा हो, यदि अपने गोत्र को यशस्वी न बनाया हो, यदि मुझमें कोई कमी हो, यदि मैं चरित्रहीन हूँ, यदि मैं भर्तारद्रोही हूँ परलोक विरोधी हूँ, और मैंने मन से भी कभी रावण की इच्छा की हो, तो हे अग्नि! मुझे भस्म कर दे।

महासती के सतीत्व के प्रभाव से वह अग्निकुण्ड महान् सरोवर में परिवर्तित हो गया। वहाँ सहस्रदल कमल और उस पर दिव्य सिंहासन उत्पन्न हुआ। परमेश्वरी सीता उस पर बैठी हुई प्रगट हुईं और वहाँ उनके जय-जयकार का उद्घोष गगनांगन में गूंज उठा (प.च. 83.12-14)।

तब राघव ने अपने कृत्य पर पश्चात्ताप किया; महासती सीता से क्षमा मांगी और उन्हें अन्तःपुर में आमन्त्रित किया। बोले – मेरा सब कहा-सुना मन से निकाल दो, मात्सर्य छोड़ो और महादेवी बनकर राज्य करो (प.च. 83.16)।

यह सुनकर विरक्त चित्त सीता ने कहा – इसमें न तुम्हारा दोष है न जनसमूह का। हे राघव! विषाद मत करो, यह सब मेरे पूर्वकृत दुष्कर्मों का दोष है। मैंने तुम्हारे साथ संसार के सारे सुख/भोग भोगे; अब मैं संसार से निवृत्त हो गई हूँ। आज ही निश्चय से तपश्चरण लूंगी। सबके मनाने, रोकने पर भी सीता वहाँ नहीं रुकीं और तपस्विनी हो गयीं (प.च. 83.17)।

सीता के वन चले जाने पर उनके गुणों से प्रभावित लक्ष्मण सोचते हैं – "जानकी के बिना मैं आज मातृविहीन हो गया हूँ" (प.च. 86.11)।

"पउमचरिउ" का वृत्त यहीं समाप्त नहीं होता। राम के कैवल्य व सीता के तप करके स्वर्गलोक में इन्द्र बनने और उसके भी आगे चलता है। परन्तु सीता का मानवीय व्यक्तित्व विषयक वृत्त उनके दीक्षा लेने के साथ ही समाप्त हो जाता है।

यूं तो यह आलेख अपने आप में महाकवि स्वयम्भू के ही शब्दों में सीता के चरित्र को सहस्र-सहस्र सूर्यों के आलोक से प्रकाशित कर देता है जिससे सुधी पाठकवृन्द अन्य समस्त रामकथाओं की अपेक्षा "पउमचरिउ की सीता" के चरित्र की महत्ता स्वयं आंक सकेंगे। अतः यहाँ अन्य रामायणों से उनके चरित्र की तुलना न अपेक्षित है न आवश्यक। फिर भी यह लेखक अपनी ओर से कुछ शब्द कहना चाहेगा।

पउमचरिउ की सीता को कहीं भी लक्ष्मण के चरित्र पर सन्देह का कोई कारण उपस्थित नहीं होता और न रावण के परस्त्री पर बलात्कार न करने की अटूट प्रतिज्ञा से उनके चरित्र में किसी शंका का कोई हेतु शेष रहता है। फिर भी लोकापवाद बलवान् है। उसी के कारण सीता न केवल राम के द्वारा परित्याग और अग्निपरीक्षा को सहन करती हैं, अपितु वाल्मीकि-रामायण की सीता के समान पृथ्वी में समा कर नहीं, दीक्षित होकर राम को सदैव के लिये अप्राप्य हो जाती हैं। आरम्भ से ही सीता का लक्ष्मण पर पुत्रवत् स्नेह और विश्वास है। संकट की प्रत्येक घड़ी में राम के साथ वे लक्ष्मण का भी स्मरण करना नहीं भूलतीं। यहाँ सीता राम की अनुगामिनी मात्र नहीं और न मानस की सीता के समान राम की ऐसी अनन्य भक्त जो प्रत्येक परिस्थिति में राम-नाम की दुहाई देती हो। उनका अपना स्वतन्त्र नारी व्यक्तित्व है। पति के रूप में राम के प्रति उनकी निष्ठा अनन्य और अविचल है। वे उनके नाम पर मृत्यु से तनिक भी भयभीत नहीं होतीं अपितु प्रतिक्षण मृत्यु के स्वागत के लिये प्रस्तुत हैं। पउमचरिउ की सीता कहीं भी अपना दैन्य प्रदर्शित नहीं करतीं। भय तो जैसे मानो उनको छू तक नहीं जाता। किसी भी परिस्थिति में वे अपना विवेक और धैर्य नहीं छोड़तीं। रावण व मन्दोदरी के द्वारा बारम्बार नाना प्रकार के भय और प्रलोभन दिखाये जाने पर उनकी कठोरतम शब्दों में भर्त्सना करती हैं। लंका के नन्दनवन मे राम के विरह में उनका तप, त्याग व आराधन दर्शनीय है। पत्नी के रूप में वे कहीं भी क्वचित्/ कदाचित् अपनी मर्यादा भंग नहीं करतीं।

सीता के वनवास के 16 वर्षों के कष्टों और रावण के नन्दनवन में एक वर्ष की प्रतिक्षण मृत्यु से भी परे की समस्त यातनाओं, तप और त्याग को भूल कर राम "राजा" के रूप में लोकापवाद के भय से उनके चरित्र पर सन्देह करके आसन्न प्रसव की दशा में जब उन्हें भयानक वन में छुड़वा देते हैं तब सीता का नारीत्व अपने दुर्भाग्य को कोसता हुआ भी जागृत हो उठता है। यहाँ सीता के दोनों पुत्र रामायण के निरीह गायक नहीं अजेय योद्धाओं के रूप में प्रकट होते हैं।

राम के द्वारा पुनः बुलाये जाने पर वे अनिच्छापूर्वक अयोध्या जाना स्वीकार करती हैं परन्तु जब राम सबके समक्ष उनके चरित्र पर पुनः सन्देह प्रकट करते हैं तो सीता का नारीत्व सूर्य से भी अधिक दीप्त, प्रचण्ड और तेजस्वी हो उठता है और उस समय वे पुरुष के रूप में राम की तथा समस्त पुरुष जाति की भर्त्सना करने से भी नहीं चूकतीं। वे अग्निपरीक्षा में उत्तीर्ण होकर एक ओर अपना सतीत्व सिद्ध करती हैं, तथा दूसरी ओर दीक्षित होकर नारी का स्वतन्त्र व्यक्तित्व भी। विरक्त सीता के मन में किसी के प्रति न कोई क्षोभ रहता है, न कोई आरोप। जो कुछ घटित हुआ है उसे वे अपने पूर्वकृत कर्मों का ही दोष मानकर सबको शान्तभाव से क्षमा कर देती हैं। सीता के विरक्त हो जाने पर लक्ष्मण अपने को मातृविहीन हुआ अनुभव करते हैं। सीता के प्रति उनका जो सदैव से मातृभाव था, वह एक बार नहीं अनेकशः घोषित और सिद्ध होता है।

इस प्रकार यद्यपि महाकवि स्वयम्भू ने अपने कथानक में मूलतः आदिकवि वाल्मीकि का और जैन-परम्परा में पद्मपुराण के रचयिता रविषेणाचार्य का अनुकरण किया है; तथापि न केवल उनके सभी वर्णनों में अपनी अद्वितीय काव्यात्मक मौलिकता है, अपितु

उनकी रामकथा के सारे पात्र भी अपना-अपना वैशिष्ट्य लिये हुये हैं। स्वयम्भू भी कई प्रसंगों में भिन्न-भिन्न पात्रों के मुख से नारी-निन्दा में प्रवृत्त होते दिखाई देते हैं परन्तु वे नारी का स्वातंत्र्य और स्वाभिमान नष्ट नहीं होने देते। मानस के संत तुलसी भी सीता की अग्निपरीक्षा तो कराते हैं परन्तु महासती सीता के पुनः त्याग का वृत्त सुज्ञात होते पर भी उनका सीता के प्रति श्रद्धा और भक्ति से भरा हुआ हृदय इस वृत्त को स्वीकार नहीं कर पाता। वाल्मीकि-रामायण की सीता भी मानवी है और राम एक महामानव। परन्तु मानस के राम साक्षात् विष्णु के अवतार हैं और सीता उनकी आद्या शक्ति। इसी कारण राम-वनवास में वास्तविक सीता का नहीं माया सीता का अपहरण होता है और लंकाविजय के पश्चात् अग्निपरीक्षा में वास्तविक सीता केवल पुनः प्रकट होती हैं और मायासीता लुप्त हो जाती हैं। "पउमचरिउ" के राम भी मानव हैं और सीता मानवी। उनमें कहीं देवत्व का विधान नहीं है। दोनों अपने-अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व को लेकर खड़े हैं। राम अपने तपोबल से उसी शरीर से मोक्ष या परमात्मत्व प्राप्त करते हैं और सीता स्वर्ग में इन्द्रपद। दोनों अपनी-अपनी परम्परा के अनुसार अपने चरित्र के आदर्शों और मर्यादाओं का निर्वाह करते हैं। कहीं कोई मर्यादा का स्खलन नहीं होने देता। यद्यपि भारतीय वाङ्मय में रामकथा के अनेक तुलनात्मक अध्ययन हुए हैं, जिनमें स्वर्गीय फादर कामिल बुल्के की रचना "रामकथा की उत्पत्ति और विकास" न केवल अद्वितीय अपितु रामकथा का ज्ञानकोष है। फिर भी इस लेखक को ऐसा लगता है कि महाकवि स्वयम्भू की रामकथा का अन्य रामकथाओं से सूक्ष्म तुलनात्मक अध्ययन करणीय है; विशेष रूप से पउमचरिउ व रामचरितमानस का।

---

[1] द्रष्टव्य – डॉ० कृष्णदत्त अवस्थी कृत, भारतीय वाङ्मय में सीता का स्वरूप, अध्याय 1–2

[2] वही, पृष्ठ 97

[3] वही, पृष्ठ 97

[4] वही, पृष्ठ 97

[5] वही, पृष्ठ 97

[6] वही, पृष्ठ 98 से 110

[7] वही, पृष्ठ 116 से 124

[8] पउमचरियं भाग 1, भूमिका पृ० 1-3, प्रा. टे. सो. वाराणसी

[9] वही नहीं

[10] वही, पृष्ठ 6-7

[11] द्रष्टव्य पउमचरिउ भाग 1, सं. – डॉ० भायाणी, भूमिका पृ. 31-40

[12] हिन्दी में रामायण विषयक अन्य रचनाओं के विस्तृत परिचय के लिए द्रष्टव्य भा. वा. में सीता का स्वरूप, अध्याय-3

स्वयम्भू कृत पउमचरिउ के कुछ प्रमुख नारी-पात्र

— डॉ० विद्यावती जैन

□

व्यक्ति का चरित्र अथवा शील उसकी हृदयावस्था का एक सजीव मानचित्र होता है। हृद्गत-भावना से यदि उसके शील का प्रत्यक्ष या परोक्ष लगाव न हो, तो केवल शारीरिक क्रिया का शील से कोई अन्योन्याश्रित सम्बन्ध नहीं हो सकता, क्योंकि यदि हाव के पीछे भाव न हो, तो वहाँ शील की सार्थकता ही क्या ? किसी भी इतिवृत्त की साधारणता या असाधारणता उसके पात्रों के शील पर ही निर्भर रहती है, अतः उनके शील-स्थापत्य के द्वारा ही मानवीय मनोभावनाओं का सूक्ष्मातिसूक्ष्म आकलन सम्भव है और इतिवृत्त में यही आकलन एवं उसका विश्लेषण चरित्र-चित्रण कहलाता है, जो कि इतिवृत्त का मूलाधार होता है।

यह बात सही है कि वाल्मीकि द्वारा चित्रित नारी-पात्र आगे के लेखकों के लिए प्रकाश-स्तम्भ बने। फिर भी जैन लेखकों ने उसका अन्धानुकरण नहीं किया, बल्कि अपनी स्वतन्त्र विचारधारा, श्रमण-परम्परा और युग प्रभाव आदि का पुट देकर उन्हें कुछ विशिष्ट गुणों से अलंकृत किया। श्रमण साहित्य विशेषतया पउमचरिउ के नारी-पात्रों को देखें, तो श्रमणेतर साहित्य के नारी-पात्रों से उनके स्वतन्त्र आत्म-विकास के वैशिष्ट्य की सीमा-रेखा स्पष्ट अंकित की जा सकती है।

स्वयम्भू एक जन्मजात प्रतिभा के धनी एवं विचारशील महाकवि हैं। मानव-हृदय के प्रायः प्रत्येक पक्ष का उन्होंने गम्भीर मनोवैज्ञानिक अध्ययन एवं सूक्ष्म-विश्लेषण करने का प्रयत्न किया है। अपनी धनी अनुभूतियों के आधार पर उन्होंने अपने पात्रों को अत्यन्त जीवन्त एवं कर्मठ बनाया है। पउमचरिउ में उनके पात्रों की विविध दशाओं का चित्रण न केवल मनोवैज्ञानिक एवं बुद्धिसंगत है अपितु लोकोपयोगी, रोचक एवं आकर्षक भी। उनके पात्र जीवन के अन्तर्द्वन्द्व और संघर्षों के बीच निरन्तर आगे बढ़ते रहते हैं। स्वयंभू

ने परिवर्तन या विकास को जीवन का शाश्वतिक नियम माना है। यही कारण है कि उनके पात्र प्रसंगानुकूल अवसरों पर हंसते-रोते, सुखी-दुखी, शान्त, उग्र, हठी, क्रोधी, कष्ट-सहिष्णु अथवा आशा-निराशा से युक्त और अन्त में वैराग्योन्मुख होकर घोर तपस्या करते हुए देखे जा सकते हैं। पात्रों की सहज-स्वाभाविकता का यही लक्षण भी है।

नारी-पात्रों के विविध रूप मुखरित करने में कवि को बड़ी सफलता मिली है। ऐसा प्रतीत होता है कि उसे विभिन्न वर्ग की नारियों की मनोदशा का तलस्पर्शी ज्ञान है, अतः उसने जिस नारी का भी चित्रण किया, वह सांगोपांग बन पड़ा है। वे ऐन्द्रजालिक अथवा काल्पनिक नहीं, बल्कि हाड़-मांस के बने हमारे एवं आपके बीच के सांसारिक — यथार्थ प्राणी जैसे ही हैं, जिनमें भद्रता, अभद्रता, अथवा उसके मिश्रितरूप का दर्शन सहज-सुलभ है। परिस्थितियाँ एवं वातावरण नारी में कितना परिवर्तन ला सकता है यह स्वयंभू के नारी-पात्रों से स्पष्ट है।

स्वयंभू ने नारी-पात्रों के स्वाभाविक अवगुणों की अवतारणा भी की, किन्तु अन्त में उन्होंने उन्हें भी परिस्थितियों की कसौटी पर कस कर तथा उनका हृदय परिवर्तित कर उन्हें भी उच्च पद पर प्रतिष्ठित किया है। अपभ्रंश साहित्य के क्षेत्र में नारी के लोक-मंगल की यह कल्पना स्वयंभू की संभवतः अपनी ही मौलिक देन है, जो श्रमणेतर-परम्परा में दुर्लभ है। स्वयंभू की यह प्रेरक परम्परा परवर्ती अपभ्रंश कवियों के लिए भी आदर्श बन गई। इन तथ्यों के आलोक में कवि के पउमचरिउ में वर्णित कुछ प्रमुख नारी-पात्रों के चरित्रों का यहाँ विश्लेषण प्रस्तुत किया जा रहा है :—

सीता

विश्व की जितनी भी आदर्श महिलाएँ हैं, उनमें सीता का आदर्शपूर्ण जीवन अद्वितीय एवं बहुचर्चित रहा है। उसका चरित्र भारतीय आदर्शों का एक उज्ज्वल प्रतीक ही बन गया है। उसने भारतीय जन-जीवन को जितना अधिक प्रभावित किया है, अन्य चरित्रों ने नहीं, भारतीय लेखकों ने तो एक आदर्श महिला के प्रति जितने भी उच्च आदर्शों की कल्पना की है, उन सबका समावेश उन्होंने सीता के चरित्र में करने का अथक प्रयत्न किया है। महाकवि स्वयंभू ने भी उस प्रयत्न में अपनी कुछ मौलिक विशेषताओं के साथ अपना योगदान किया है।

स्वयंभू की सीता सौन्दर्य में अद्वितीय है। कवि ने उसके नख-शिख का हृदयावर्जक वर्णन किया है। उसके अनुसार सीता की काया विद्युल्लता की आभा के समान उज्ज्वल[1] और अंग-प्रत्यंगों की संरचना अत्यन्त ही सुडौल एवं सुगठित है। अनिन्द्य सौन्दर्यवती होने पर भी कवि ने उसके सौन्दर्य-चित्रण में कामोत्तेजक तथा अश्लील उपमाएँ नहीं दीं। उसने केवल उसके सौन्दर्य के प्रभाव का ही सन्तुलित भाषा में चित्रण किया है। यथा :—

"सुकइ कहव्व सुसन्धि सुसन्धिय सुपय सुवयण सुसद्द सुवद्धिय।
थिर-कलहंसगमण गइ-मन्थर किस मज्झारें णियम्बे सु-वित्थर॥
रोमावलि मयरहरुत्तिण्णी णं पिम्पिलि-रिञ्छोलि विलिण्णी।
अहिणव-हुण्ड-पिण्ड-पीणत्थण णं मयगल उरखम्भ-णिसुम्भण॥

देहइ वयण-कमलु अकलंकउ णं माणस-सरें वियसिउ पंकउ।
सुललिय-लोयण ललिय-पसण्णहँ णं वरइत्त मिलिय वर-कण्णहँ ॥
घोलइ पुट्ठिहि वेणि महाइणि चंदणलयहिँ ललइणं णाइणि।

पउम. 38.3.2-8

किन्तु सौन्दर्य कभी-कभी अभिशाप का कारण बन जाता है। जिस समय सीता वनवास में राम के साथ विन्ध्य प्रदेश की घनी अटवी में भटकती है, तब अचानक ही विन्ध्य का राजा रुद्रभूति उसके सौन्दर्य से आकृष्ट होकर उसके अपहरण हेतु अपनी सेना भेज देता है।[2] उस अवसर पर यदि लक्ष्मण अपना क्षात्र तेज न दिखाते तो सीता का अपहरण सम्भवतः उसी समय हो जाता।

व्यक्ति साधारणतया दुर्भाग्य को जीवन का बड़ा भारी अभिशाप मानने लगता है, किन्तु महाकवि स्वयम्भू ने सीता के ऊपर घोर विपत्तियों के समय भी यह उक्ति लागू नहीं होने दी। लोकदृष्टि में यद्यपि सीता अभागी है, किन्तु उसका यह दुर्भाग्य भी पुरुषार्थ का ही द्योतक है। यह बात सही है कि वह विवाह के बाद किंचित् भी वैवाहिक सुख-भोग नहीं कर सकी यहाँ तक कि विवाह की प्रथम वर्षगांठ भी नहीं मना सकी, क्योंकि उसके पूर्व ही उसे वनगमन करना पड़ा, फिर भी वह अपने दुर्भाग्य को कोसती नहीं, बल्कि आगत पीड़ाओं एवं विपत्तियों को वह पूर्वजन्मकृत कर्मों का ही फल मानकर उन्हें धैर्यपूर्वक सहती है। वह स्पष्ट कहती है – **एयइँ दुक्कियकम्महो फलइँ।**[3]

कर्म-सिद्धान्त जैनदर्शन एवं आचार का मेरुदण्ड है। जैनाचार्यों ने भाग्यवाद का विरोध कर समाज में आशा एवं निराशा से उत्पन्न परिस्थिति को निरर्थक घोषित किया है। मक्खलि पुत्र गोशाल एवं भगवान् महावीर के बीच जब नियतिवाद अथवा भाग्यवाद और पुरुषार्थवाद को लेकर वैशाली में शास्त्रार्थ हुआ, तब उसमें महावीर ने भाग्य को एक गड्ढे में संचित कीचड़ से सना हुआ दुर्गन्धिपूर्ण जल बतलाया और पुरुषार्थ को बहता हुआ निर्मल गंगाजल। दोनों के शास्त्रार्थ में अन्ततः महावीर के पुरुषार्थवाद की ही विजय होती है, जिसका मूल उत्स कर्म-सिद्धान्त ही है। अतः महाकवि स्वयम्भू ने सीता जैसी तेजस्विनी तथा स्वाभिमानिनी महिला को भी भाग्यवादिनी न मानकर पुरुषार्थवादिनी के रूप में चित्रित किया है।

जहाँ तक समकालीन-समाज में नारी के गुणों का प्रश्न है, उनमें भी सीता को कवि ने सर्वोच्च आसन पर विराजमान किया है। एक प्रसंग में कवि ने उसे नृत्यकला में प्रवीण बतलाया है। जिस समय राम, लक्ष्मण एवं सीता कुलभूषण देशभूषण महाराज की वन्दना के लिए जाते हैं, तब उनकी तपःपूत साधना से अत्यन्त प्रभावित होकर राम 'सुघोषा नामक वीणा का वादन करने लगते हैं और उसकी संगत में लक्ष्मण भी शास्त्रीय संगीत प्रारम्भ करते हैं जिसमें सात स्वर, तीन ग्राम, एवं अन्यान्य स्वरभेद रहते हैं। मूर्च्छना के 21 स्थान और 49 स्वरतानें रहती हैं। उनकी तालों पर सीता नृत्य करती है। अपनी नृत्यक्रिया में सीता नौ रस, आठ भाव, दश दृष्टियों एवं 22 लयों का सुन्दर प्रदर्शन कर सभी को प्रभावित करती है।[4]

महाकवि स्वयम्भू का सीता की कलाप्रवीणता सम्बन्धी प्रसंग सर्वथा मौलिक है। अन्य अमरणेतर रामायणों में यह प्रसंग उपलब्ध नहीं होता। इसमें सीता के माध्यम से कवि ने समकालीन संगीत एवं नृत्यकला के विकसित रूप का संक्षिप्त विश्लेषण तो किया ही, साथ ही अपनी संगीतज्ञता का भी परिचय दिया है।

सीता यद्यपि नवविवाहिता है। प्रसूति-पीड़ा अथवा पारिवारिक या दाम्पत्य सुख के अनुभव के पूर्व ही उसे वनवास भोगना पड़ता है, फिर भी नारी सुलभ मातृत्व गुण उसमें प्रारम्भ से ही समाहित है। उसका हृदय नवनीत के सदृश कोमल, सरल, निष्पक्ष एवं निष्कपट है। वनवास के समय लक्ष्मण द्वारा भूल से जब चन्द्रनखा के तपस्यारत पुत्र शम्बूक का वध हो जाता है, तब सीता शोकविह्वल हो उठती है और उसका मातृत्व गुण जाग उठता है, जो उसके विराट् व्यक्तित्व के सर्वथा अनुकूल ही है। वह उसके वध से उसी प्रकार पीड़ित हो उठती है, जैसे स्वयं उसके पुत्र की ही किसी ने हत्या करदी हो।[5]

सीता एक ओर जहाँ मातृत्व गुणों से भरपूर एवं अत्यन्त सुकोमल-हृदया है, वहीं दूसरी ओर वह अपने पातिव्रत्य एवं शील-सदाचार की सुरक्षा के लिए अडिग, अकम्प एवं कठोर पाषाण की तरह भी है। नन्दनवाटिका में मन्दोदरी जब रावण के राज्य वैभव एवं ऐश्वर्य सुखों का प्रलोभन देती हुई रावण को अपने प्रियतम के रूप में स्वीकार करने हेतु सीता से अनुरोध करती है, तब सीता बड़ी ही निर्भीकतापूर्वक रावण को तुच्छ बतलाकर मन्दोदरी की घोर भर्त्सना करती है और उसे फटकारती हुई कहती है – "तुम अपने पति के लिए दौत्य-कर्म करके, मुझे फुसला रही हो। प्रतीत होता है कि तुम स्वयं भी किसी परपुरुष में आसक्त हो।"[6] मन्दोदरी के असफल हो जाने पर जब रावण स्वयं ही सीता के पास आकर उसे तरह-तरह से प्रलोभन देता है और राम को तुच्छ एवं अधम सिद्ध करने का प्रयत्न करता है, तब सीता का शील-तेज भड़क उठता है और वह तमककर उसे उत्तर देती है – "अरे तू, मुझे अपना ऋद्धि वैभव क्या दिखलाता है? सुन ले वह तो मेरे लिए तृण के समान तुच्छ है। तेरा सुन्दर एवं समृद्ध राज्य मेरे लिए यमशासन की तरह है। तेरा राजकुल मेरे लिए भयावह श्मसान के समान है, तथा तेरा यौवन मेरे लिए विष-भोजन के समान हैं।[7] तेरे उस ऐश्वर्य-वैभव से क्या लाभ, जहाँ सन्नारियों के शील एवं चरित्र के खण्डित होने की आशंका हो?" सीता के इस दृढ़ शीलव्रत की प्रशंसा में रावण की पट्टरानी एवं दासियाँ स्वयं प्रशंसा करती हैं :–

"देव देव जइ हुअवहु उज्झइ जइ मारुउ पड-पोट्टलें बज्झइ।
जइ पायालें णहंगणु लोट्टइ कालान्तरेण कालु जइ तिट्ठइ॥
जइ उप्पज्जइ मरणु कियन्तहों जइ णासइ सासणु अरहन्तहों।
जइ अवरें उग्गमइ दिवायरु मेरु सिहरें जइ णिवसइ सायरु॥
एउ असेसु वि सम्भाविज्जइ सीयहें सीलु ण पुणु मइलिज्जइ।
घत्ता—जइ एव वि णउ पत्तिज्जहि तो परमेसर एउ करें॥
तुल-चाउल-विस-जल-जलणहं पंचहं एक्कु जि दिव्वु धरें। 83.4.4-9

सीता कष्टसहिष्णु है। अपहृत होने के बाद वह 21 दिन तक निराहार रह जाती है। वह प्रतिज्ञा करती है कि जब तक उसके प्रियतम (राम) का उसे कोई समाचार नहीं

मिलेगा, तब तक उसके आहार जल का त्याग है। वह रावण एवं उसकी दासियों द्वारा दिए गए कष्टों को बड़े धैर्य और साहस के साथ सहन करती है। यथा –

> "विज्जुप्पइ विज्जुज्जल वयणी बलणावलि रत्तुप्पल णयणी।
> हयमुहि हिलिहिलन्ति उद्धाइय गयमुहि गुलुगुलन्ति सम्पाइय।
> तं वसु णिएवि तियहुँ भीसाणहुँ कालु कियन्तु विमुच्चइ पाणहुँ।
> घत्ता–तेहएँ वि कालें पडिवण्णएँ विणु रामें विणु लक्खणेण।
> चउवेहिहँ चितु ण कम्पियउ विउ-बलेण सीलहों तणेंण ॥ 49.16.7-10

वियोगिनी सीता पर हृदयवेधी अपमानजनक शब्दबाणों की घनघोर वर्षा तथा कल्पनातीत विपत्तियों की बौछारों के बीच भी उसके धैर्य एवं सत्साहस को देखकर पवन-पुत्र हनुमान स्वयं भी आश्चर्यचकित हो जाते हैं तथा वे उसकी प्रशंसा करते हुए कहते हैं – "घोर विपत्तियों में प्राणान्त होने की स्थिति आने पर भी इस सीता ने असीम धैर्य धारण किया है। महिला होकर भी इसमें जितना साहस है, उतना पुरुषों में भी नहीं।"[8]

विरहिणी सीता नन्दनवन में जब राम की स्मृति में पीड़ित एवं अर्द्धमूच्छित रहती है, उसी समय हनुमान प्रच्छन्न रहकर सीता की गोद में राम की नामांकित मुद्रिका गिराते हैं।[9] पूर्व में तो वह उसे इन्द्रजाल की तरह ही प्रतीत होती है, किन्तु बाद में जब उसे उसकी यथार्थता का पूर्ण विश्वास होता है, तब वह स्पष्ट कहती है कि जो भी हितैषी राम की इस अंगूठी को लेकर यहाँ आया है, वह मेरे सामने साक्षात् उपस्थित हो। उसका कथन सुनकर हनुमान उसके सम्मुख प्रकट हो जाते हैं और सीता को त्रस्त करनेवाली रावण की दूतियों को दूर हटाकर वे राम का कुशल वृत्तान्त कहकर सीता से राघव के पास चलने का निवेदन करते हैं।[10] इस प्रसंग में सीता ने जो उत्तर दिया वह भारतीय शील एवं पातिव्रत्य के इतिहास का एक अत्यन्त रोचक एवं अद्भुत उदाहरण है। विरह-सन्तप्त सीता यद्यपि अत्यन्त दुःखी है, किन्तु वह परपुरुष के स्पर्श की भी कल्पना से अतिदूर एवं अत्यन्त स्वाभिमानिनी महिला के रूप में उपस्थित होती है। वह हनुमान से कहती है :–

"गुणविहीना बहू ही परपुरुष के साथ जा सकती है कोई कुलवधू नहीं, क्योंकि यह रघुकुल-परम्परा के सर्वथा विपरीत है। हे वत्स, यदि अपने कुलगृह भी जाना हो, तो भी उसे पति के बिना जाना अयुक्त है क्योंकि जनपद के लोग प्रायः निन्दाशील, स्वभाव-दुष्ट एवं कलुषित मनवाले होते हैं। जहाँ जो बात नीतिविहीन होती है, वे तत्काल ही आशंका कर उसकी निन्दा करना प्रारम्भ कर देते हैं। अतः निशाचर दशानन के वध के पश्चात् जय-जय शब्द होने पर मैं श्री राम के साथ ही अपने जनपद जाऊँगी। उनके बिना मैं नहीं जा सकती। हाँ, तुम इतना अवश्य करो कि राम की जानकारी के लिए मेरा यह चूड़ामणि रत्न उन्हें अर्पित कर देना।"[11]

व्यक्ति के धैर्य की भी एक सीमा होती है। अनन्त घातप्रतिघातों के मध्य धैर्य भी जब धैर्यविहीन हो सकता है, तब सीता तो केवल एक नारी थी। जब लंका-विजय के पश्चात् राम लक्ष्मण एवं सीता के साथ अयोध्या वापिस आ जाते हैं, किन्तु कुछ ही दिनों

के बाद लोकापवाद के कारण राम सीता को वन में निर्वासित कर देते हैं। संयोग से पुण्डरीकनगर का राजा वज्रजंघ अपनी धर्मबहिन मानकर उसे अटवी से अपने राजभवन में सादर ले आता है।[12] कालान्तर में सीता को लाने हेतु राम विभीषण, अंगद, सुग्रीव, एवं हनुमान को भेजते हैं। उन्हें देखते ही सीता का धैर्य कुछ क्षणों के लिए टूट जाता है और वह तीव्र शब्दों में राम की कटु आलोचना करने के लिए विवश हो जाती है। वह कहती है – "मेरे सामने पत्थर-हृदय राम का नाम मत लो। उनसे मुझे कभी सुख नहीं मिला। चुगलखोरों के कहने पर उन्होंने मुझे जो आघात पहुँचाया है, उसकी जलन सैंकड़ों मेघों की वर्षा से भी शान्त नहीं हो सकती।"[13]

आगे चलकर सीता का रूप और भी अधिक उग्र हो उठा है। वह वस्तुतः दीर्घ-काल से संचित मनस्संताप एवं उत्पीड़न का ही परिणाम था, जिसका बाँध राम को देखते ही टूट पड़ा है। इस प्रसंग में सीता का आक्रोशभरा विस्तृत भाषण यहाँ प्रस्तुत करना सम्भव नहीं, किन्तु यह अवश्य कहा जा सकता है कि परवर्ती प्राचीन भारतीय वाङ्मय में भारवि के द्रौपदी के भाषण को छोड़कर इतना तेजस्वी भाषण अन्यत्र उपलब्ध नहीं। अपभ्रंश साहित्य में तो यह भाषण प्रथम एवं अन्तिम ही है। दीर्घावधि के बाद जब राम सीता के सम्मुख आते हैं तब सीता को तो उनसे यही आशा थी कि उसके प्रियतम उसके आँसू पोंछकर स्नेह-सिक्त वाणी में उसकी कुशलता पूछेंगे, किन्तु उसकी कल्पना के सर्वथा विपरीत राम व्यंग्य भरे शब्दों का प्रयोग करते हैं। यथा :–

> जइ विकुलुग्गयाउ णिरवज्जउ महिलउ होंति सुट्ठु णिल्लज्जउ।
> दरदावियकडक्ख विक्खेवउ कुडिल मइउ वड्ढिय अवलेवउ।
> बाहिर धिट्ठउ गुणपरिहीणउ किह सह खण्ड ण जंति णिहीणउ।
> णउ गणंति निय कुलु मइलंतउ तिहुअणि अयसपडहु वज्जंतउ।
> अंगु समोड्डिवि धिट्ठिक्कार हो वयणु णिएंति केम भत्तार हो। 83.8.1-6

सीता राम के इस व्यंग्यवाण से मर्माहत अवश्य हुई किन्तु उसका स्वाभिमान उस अपमान को सहन नहीं कर सका। अतः वह भी राम की भाषा के समानान्तर ही उत्तर देती है।[14] इस प्रसंग में ऐसा प्रतीत होता है, जैसे स्वयंभू की सीता युगों-युगों से मानव द्वारा प्रताड़ित होनेवाली समस्त महिला-समाज की प्रतिनिधि होकर सारे पुरुष समाज को उसके द्वारा किये गए अन्याय एवं अत्याचारों के लिए डाँट-फटकार ही पिला रही हो और यह घोषणा कर रही हो कि नारी पुरुष की दासी नहीं, अब वह पुरुष प्रदत्त यातनाओं एवं अन्याय-अत्याचारों को अधिक समय तक सहन नहीं कर सकती। उसे उनके प्रतिरोध का पूर्ण अधिकार है। सीता उत्तर देती हुई कहती है :–

> सीय ण भीय सइत्तण-गव्वें वलेवि पवोल्लिय मच्छर गव्वें।
> पुरिस णिहीण होंति गुणवंत वि तियहेण पत्तिज्जंति मरंत वि॥
> खडु लक्कडु सलिलु वहंतियहे पउराणियहे कुलुग्गयहे।
> रयणायरु खारइं देंतउ तो वि ण थक्कइ णम्मयहे॥ 83.8.7-10
> णर णारिहिँ एवड्डउ अंतरु मरणे वि वेल्लि ण मेल्लइ तरुवरु।
> एह पईं कवण बोल्ल पारम्भिय सइवडाय मईं अज्जु समुब्भिय॥
> तुहुं पेक्खंतु अच्छु वीसत्थउ हहउ जलणु जइ डहेवि समत्थउ। 83.9.6-9

सीता के चरित्र में यह प्रसंग एक दूषण के रूप में प्रयुक्त माना जा सकता है क्योंकि जो सती शीलवती हो, अपने प्रियतम के विछोह में जिसने जीवन के सुखों की कल्पना का भी परित्याग कर दिया हो, वही चिरकाल के बाद अपने प्रियतम से प्रथम मिलन की बेला में इतना आक्रोश दिखाए, यह उसके व्यक्तित्व के सर्वथा प्रतिकूल प्रतीत होता है, किन्तु इस प्रसंग में ऐसा प्रतीत होता है कि कवि स्वयम्भू ने समकालीन महिला समाज की स्थिति पर प्रकाश डालने का अवसर निकाला है और सीता के माध्यम से उन्होंने उसका स्पष्ट विश्लेषण किया है।

निर्वासित सीता जब लौटकर अयोध्या वापस आती है तब वह अपने शीलभंग की आशंका का निराकरण किए बिना नगर-प्रवेश नहीं करती। वह नगर के बाहर उसी उपवन में बैठ जाती है, जहाँ से राम ने उसे निर्वासित किया था।[15] वह जीवन की सबसे कठोर परीक्षा – अग्नि-परीक्षा देकर अपने प्रियतम राम के मन की ही नहीं, अपितु समस्त जनपद के लोगों की शीलभंग सम्बन्धी आशंका को भी निर्मूल कर देना चाहती है। अतः वह पंचनमस्कार मन्त्र का स्मरण करती हुई प्रज्वलित अग्नि-चिता में प्रवेश कर जाती है। यह उसके शील का ही प्रभाव है कि वह चिताग्नि शीतल-जल में परिवर्तित हो जाती है और उससे सभी उपस्थित नर-नारी उस दृश्य से प्रभावित होकर उसके चरित्र के निष्कलंक होने की घोषणा करते हैं।[16] यहाँ तक कि रावण के दौत्य कर्म में नियुक्त निशाचरियाँ भी सीता के शील की प्रशंसा करती हैं। जिसकी चर्चा पीछे हो चुकी है।

अग्निपरीक्षा के बाद राम सोचते हैं कि अब उनके एवं सीता के पूर्वकृत दुष्कर्मों का शमन हो गया है और सीता के साथ उनका शान्ति एवं समता का जीवन व्यतीत होगा। किन्तु अब दूसरी ही स्थिति उत्पन्न हो जाती है। सीता भौतिक सुखों की क्षणिकता एवं सांसारिक मायाजाल का अनुभव कर उनसे निर्लिप्त हो जाती है। उसके सम्मुख संसार की अनित्यता साकार हो चुकी थी। अरि-मित्र, महल-मसान, कंचन एवं काँच के प्रति उसके मन में कोई भेदभाव नहीं रह जाता है। शीघ्र ही वह सांसारिक सुखों से विरत होकर आर्यिकाव्रत स्वीकार कर लेती है और घोर तपस्या में लीन होकर स्वतन्त्र आत्म-विकास की प्रक्रिया में लीन हो जाती है।[17]

इस प्रकार स्वयम्भू की सीता कष्टसहिष्णु, कर्मसिद्धान्त में विश्वास रखनेवाली, शीलरक्षा में कठोर उपायवाली, अत्यन्त निर्भीक एवं साहसी, लोककलाओं में प्रवीण, कोमल-हृदया, स्वाभिमानिनी तथा संसार की क्षणिकता देखकर वैराग्य धारण कर, स्वतन्त्र आत्मविकास की प्रक्रिया में विश्वास रखनेवाली आदर्श नायिका है।

जब हम सीता विषयक श्रमणेतर साहित्य को देखते हैं तो उसमें कुछ प्रसंगों में मौलिक अन्तर दृष्टिगोचर होता है। यह अन्तर वस्तुतः विचारभेद, अथवा दृष्टि-भेद के कारण ही है। यथा – वाल्मीकि रामायण में सीतापहरण के प्रसंग में बतलाया गया है कि वह एक स्वर्ण मृग को देखते ही उस पर आकर्षित हो जाती है और उसके स्वर्णाभ चर्म की उपलब्धि के लिए वह राम को उसके वध के निमित्त भेजती है। किन्तु श्रमण-परम्परा की सीता अपने मनोविनोद तथा अपने शरीरसुख के लिए किसी निरपराध प्राणी की

हिंसा करायें, यह उसके लिए सम्भव नहीं, अतः स्वयम्भू ने सीतापहरण के प्रसंग में घटना को अहिंसक मोड़ दिया है। यथा –

शम्बूक की मृत्यु के पश्चात् जब लक्ष्मण खरदूषण के साथ युद्ध कर रहा था, तभी रावण ने राम को भ्रम में डालने के लिए अपनी अवलोकिनी विद्या के द्वारा सिंहनाद करवा दिया। राम ने उसे लक्ष्मण का आर्तस्वर समझा और वे सीता को अकेली छोड़कर लक्ष्मण की सहायतार्थ पहुँच जाते हैं और इधर अवसर पाते ही रावण सीता को अपहरण कर ले जाता है।[18]

यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि श्रमणेतर रामकथाओं में सीतापहरण से पूर्व सीता लक्ष्मण के प्रति लांछनापूर्ण कठोर शब्दों का प्रयोग कर उसे अपमानित करती है, किन्तु श्रमण लेखकों ने सीता के इस प्रकार के स्वभाव का भूलकर भी उल्लेख नहीं किया। इससे सीता के चरित्र की गरिमा बढ़ गई है।

कैकेयी

कैकेयी राजा दशरथ की पत्नी एवं भरत की माता है। उसका चरित्र अन्य राम-कथाओं में आदि से अन्त तक निन्दित एवं गर्हित कोटि का चित्रित किया गया है। महाकवि स्वयम्भू ने भी प्रारम्भ में कुछ वैसा ही चित्रित किया है किन्तु बाद में उसे ऊँचा उठाने का भी प्रयास किया है। उसका चरित्र कैसा ही रहा हो किन्तु समीक्षा की दृष्टि से वह इसलिए महत्वपूर्ण है कि रामकथा के विकास में इस पात्र का अद्भुत सहयोग रहा है। यदि नारी पात्रों में कैकेयी का सृजन न किया जाता तो रामकथा सम्भवतः सीता-स्वयंवर तक ही सीमित होकर एक सामान्य पुराण एवं धर्मकथा मात्र रह जाती। पउमचरिउ में उसे राजनीति चतुर, साहसी, वीरांगना, विचारपटु, सुअवसर से लाभ उठाने वाली एवं परिस्थितियों से प्रेरित माता के रूप में अंकित किया गया है।

अपने विवाह के बाद उत्पन्न स्थिति से अपने प्रियतम राजा दशरथ के रथ को हाँककर तथा विषमताओं के मध्य वह अपनी निर्भीकता, पराक्रम एवं कला-कौशल दिखलाकर प्रियतम से दो वरदान प्राप्त करती है और उन्हें उन्हीं के पास धरोहर रूप में छोड़ देती है।

राम के राज्याभिषेक की बात को सुनकर कैकेयी का मन भावी आशंका से व्याकुल हो उठता है। वह सोचने लगती है कि कहीं उसका पुत्र भरत राजगद्दी से वंचित न रह जाय और राम के सेवक के रूप में ही उसे जीवन-यापन न करना पड़े अतः वह दशरथ के पास पूर्व-सुरक्षित वरदानों की मांग करके राम को वनवास एवं भरत को राजगद्दी देने का प्रस्ताव करती है। अन्ततः वह अपने प्रयास में सफल भी हो जाती है।

सम्पूर्ण राम-कथा में कैकेयी ही एक ऐसी पात्र है जिसके माध्यम से कवि ने तत्कालीन एक पारिवारिक स्वार्थ-लिप्सा, ईर्ष्या, विद्वेष एवं कलहकारी वृत्ति को अभिव्यक्त किया है। यद्यपि वह रघुकुल के लिए अशुभ नक्षत्र के रूप में उभरकर सम्मुख आती है[19] किन्तु आगे चलकर वह भी महाकवि की सहानुभूति अर्जित कर

लेती है। शीघ्र ही उसका विवेक जागृत होता है और वह अपने दुष्कृत्यों का पश्चाताप ही नहीं करती, अपितु संसार के क्षणिक सुखों से वैराग्योन्मुख होकर वह आर्यिका व्रत धारण कर लेती है और अपने व्यक्तित्व के स्वतन्त्र आध्यात्मिक विकास में लगकर सद्गति प्राप्त करती है।

चन्द्रनखा

चन्द्रनखा रावण की छोटी बहिन एवं पाताल लंकेश्वर खरदूषण की पत्नी है।[20] वह जाति से निशाचरी है। जहाँ वह शारीरिक दृष्टि से सुन्दर एवं सुडौल है वहीं अत्यन्त कुलक्षणी एवं मायाविनी भी।[21]

जिस समय उसके इकलौते पुत्र शाम्बूक का वध हो जाता है, उस समय उसकी जननी होने के कारण चन्द्रनखा गगनभेदी रुदन करती है। उस अवसर पर उसका यह रुदन स्वाभाविक ही है, किन्तु जैसे ही वह आततायी वधिक – लक्ष्मण का पता लगा लेती है, तो वह उसके (लक्ष्मण के) युवकोचित रूप-सौन्दर्य को देखकर अपने मन का सारा दुःख भूल जाती है और वह उस पर कामासक्त हो जाती है। कामासक्ति की इसी प्रेरणा से वह राम-लक्ष्मण से अपने साथ विवाह का प्रस्ताव भी रखने की धृष्टता करती है। जब राम लक्ष्मण उसके प्रस्ताव को ठुकरा देते हैं, तब कामासक्ति के कारण वह विक्षिप्त होने लगती है। उसकी यह कामासक्ति उस चरमकोटि तक पहुँचती है जहाँ नारी अपना विवेक खोकर विक्षिप्तावस्था में अपने ही शरीर को नोंच-खसोट लेती है।[22]

महाकवि स्वयम्भू ने चन्द्रनखा को उसी विक्षिप्तावस्था में छोड़कर उसके चरित्र की इतिश्री नहीं करदी। आगे चलकर उसने उसके चरित्र को उन्नत करने का प्रयत्न भी किया है। परिस्थितियों के आरोह-अवरोह में उसका विवेक शीघ्र ही जागृत होता है। वह अपने दुष्कृत्यों पर स्वयं पश्चात्ताप करती है और संसार की क्षणिकता का ध्यान कर आर्यिका व्रत ग्रहण करती है और कठोर तपश्चर्या करती हुई सद्गति प्राप्त करती है।

यहाँ यह ध्यातव्य है कि पउमचरिउ के प्रणेता ने परमहिला स्पर्श के त्याग तथा अहिंसा की परम्परा को ध्यान में रखते हुए श्रमणेतर कवियों की तरह लक्ष्मण द्वारा चन्द्रनखा के नाक-कान नहीं कटने दिए। इतना अवश्य है कि चन्द्रनखा के दुर्व्यवहार से जब लक्ष्मण को क्रोध आ जाता है तब वह अपने अंगूठे से बन्दमुख सूर्यहास खड्ग को दबाकर उत्तेजित कर बैठता है।[23] फिर भी विवेक उसका साथ नहीं छोड़ता और वह कहता है कि यह वही सूर्यहास खड्ग है जिसने तुम्हारे पुत्र के प्राणों को हर लिया है। यदि कोई मनुष्य तुम्हारी ओर से रणभार उठाने में समर्थ हो तो उसके लिए यह धर्म का हाथ बढ़ा हुआ है।[24]

शील-स्थापत्य की दृष्टि से पउमचरिउ में कैकेयी के बाद एक ऐसी पात्र चन्द्रनखा ही है जिसने कथा के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। यही वह पात्र है जिसने विविध घटनाओं के तान-वितान बुनकर रावण जैसे वीर एवं पराक्रमी योद्धा को भी उत्तेजित किया और पउमचरिउ में उसे एक प्रतिनायक के रूप में प्रस्तुत होने का अवसर प्रदान किया। वस्तुतः रामकथा का मध्य एवं अन्त भाग चन्द्रनखा की ही देन है। उसके

अभाव में न तो रावण द्वारा सीतापहरण की ही सम्भावना थी और न ही लंकाकाण्ड की सर्जना ही हो पाती। उसके अभाव में रामकथा एक रस-कथा रहकर धर्मपुराण का रूप अवश्य ले लेती, किन्तु वह एक लोकप्रिय जनसाहित्य के रूप में उभर कर आबाल-वृद्ध, नर-नारियों के कण्ठ का हार कभी नहीं बन पाती।

मन्दोदरी

मन्दोदरी स्वयम्भू की दूसरी ऐसी प्रमुख नारी-पात्र है जिसके माध्यम से स्वयम्भू ने महिला-समाज के गुणदोषों की प्रभावक समीक्षा की है। कवि ने उसे एक अद्भुत सुन्दरी के रूप में चित्रित कर यद्यपि उसके सौन्दर्य को निर्दोष बतलाया है[25] किन्तु जिनशासन में संस्कृत रहकर भी अपने प्रियतम रावण की प्रेरणा से वह सीता को रावण की ओर उन्मुख करने हेतु वियोगिनी सीता के पास नन्दन-वाटिका में जाती है।[26] यह उसके पति परायणा होने का ही उदाहरण है।

मन्दोदरी स्वभावत: उग्र एवं हठी है।[27] जिस समय वह सीता के सम्मुख रावण की प्रशंसा कर, राम एवं लक्ष्मण को तुच्छ बतलाती है और सीता उसके उत्तर में अपने पति की प्रशंसा करती हुई उसके साथ रावण की भर्त्सना करती है[28] तब क्रोधानल में दग्ध मन्दोदरी कहती है – "अरी तू, अभी मर, कहाँ तो शक्तिशाली और सौन्दर्यसम्पन्न रावण और कहाँ तेरे तुच्छ वनवासी जंगली राम और लक्ष्मण ! अब तू रावण से बचकर नहीं जा सकती। अब तू अपने इष्टदेव का स्मरण कर, तुझे मेरे सिवा अन्य कोई बचा नहीं सकता।[29] अब तेरा माँस काट-काट कर व्यन्तरों को दे दिया जायगा और तेरे नाम की रेखा तक मिटा दी जायगी।[30] यद्यपि स्वयम्भू की यह उक्ति पुनरुक्त हो गई है क्योंकि मन्दोदरी ने सीता को धमकी देते हुए पूर्व में भी इसीप्रकार के कर्कश वचनों का प्रयोग किया है[31] किन्तु प्रतिभासित होता है कि मन्दोदरी की उग्रता को तीव्रता देने के लिए ही कवि ने ऐसा किया है। फिर भी कवि की उसके प्रति पूर्ण सहानुभूति है, अत: वह शीघ्र ही उसकी विचारधारा में सुधार भी करवा देता है। कवि जिस तीव्रता के साथ उसकी उग्रता एवं हठधर्मिता का चित्रण करता है, उसी तीव्रता के साथ वह उसमें क्रमिक विचार परिवर्तन भी करा देता है।

जब मन्दोदरी सीता को अपने पति के प्रति पूर्ण समर्पित एवं घोर विपत्तिकाल में भी शील के प्रति अडिग देखती है तब वह उससे प्रभावित होती है और उसके अन्तस्तम में निहित शील-संस्कार जागृत हो उठता है। वह सीता के प्रति अपने द्वारा किये गए दुर्व्यवहार के कारण आत्मगर्हा कर रावण की कुत्सित भावनाओं के प्रति विद्रोह कर उठती है एवं उसे भला-बुरा कहकर समझाने का प्रयास करती है तथा सीता को वापिस भेज देने की प्रार्थना करती है।[32]

इस प्रकार कवि ने मन्दोदरी के चरित्र को दूषण से बचाकर उसे पाठकों की सहानुभूति अर्जित करने का अच्छा अवसर प्रदान किया है।

राम-रावण के भीषण युद्ध में अन्तत: राम की विजय होती है और रावण का वध। सीता को तो रावण के कारागार से मुक्ति मिल जाती है, किन्तु मन्दोदरी पर

वज्रपात हो जाता है। वैधव्य उसके पल्ले पड़ता है। अपने परिकर में जब वह विधवा के रूप में प्रस्तुत होती है तब सारा वातावरण गमगीनी से भर जाता है।[33] यहाँ पर कवि ने मन्दोदरी के चरित्र को पुनः ऊपर उठाने का प्रयास किया है। उसके अनुसार राम एवं रावण की परिस्थितियों का गहन चिन्तन करने के बाद मन्दोदरी के सामने संसार की विच्छिन्नता एवं अनित्यता स्पष्ट हो जाती है। फलस्वरूप वह वैराग्योन्मुख होकर आर्यिका व्रत धारण कर लेती है।[34]

इस प्रकार मन्दोदरी का चरित्र विविधताओं से परिपूर्ण है। एक ओर वह पति की प्रसन्नता के लिए दौत्य कर्म करती है तो दूसरी ओर वह अपने ही पति की कुत्सित भावनाओं का प्रतिरोध भी। क्योंकि उसकी दृष्टि में जब शासक ही भक्षक बन जायगा और यदि वह स्वयं ही नीति विधान के विपरीत आचरण करेगा तब समाज एवं राष्ट्र की सुरक्षा कैसे सम्भव हो सकेगी ?

लंकासुन्दरी

वीर वज्रायुध की पुत्री लंकासुन्दरी का चित्रण एक तेजस्विनी तथा अदम्य वीरांगना के रूप मे हुआ है।[35] इस चरित्र की विशेषता यह है कि यह एक सौन्दर्यवती युवती है किन्तु अविवाहिता। वह अस्त्र एवं शस्त्र दोनों में ही निपुण है। वह अपने पिता की भक्ति एवं सेवा के लिए इतनी अधिक समर्पित है कि लंका में प्रवेश करते समय हनुमान के द्वारा पिता की हत्या देखकर उसका शौर्य-वीर्य भड़क उठता है और वह खड्ग लेकर हनुमान को न केवल ललकारती है, अपितु रणचण्डी का वेश धारण कर युद्ध में हनुमान को चुनौती देकर उनसे टकरा भी जाती है और अनेक विषम शस्त्रों का प्रयोग कर उनका कवच भी नष्ट-भ्रष्ट कर डालती है। वीर हनुमान इस कुमारी युवती के कल्पनातीत पराक्रम से क्षण भर के लिए आतंकित हो उठते हैं। स्वयम्भू ने स्वयं लिखा है –

> छिज्जन्तें कवएँ हरिसिय मणेण किउ कलयलु णहें सुरवर-जणेण।
> विणयरेण पहंजणु वुत्तु एम महिलाए जि जिउ हणुवन्तु केम।।
> तं वयणु सुणेवि पुलइय-भुएण सम्वउरि पवोल्लिउ मरु-सुएण।
> इउकाइ वुत्तु पइँ दिवसयर जिण-धवलु मुएप्पिणु एक्कुपर।।
> जगें जो-जो गरुयउ गज्जियउ मणु महिलाएँ को ण परज्जियउ।

अर्थात् हनुमान के कवच के नष्ट हो जाने पर देवसमूह में भी हर्ष का वातावरण फैल गया। दिनकर ने व्यंग्यपूर्वक हनुमान से कहा – "बड़े आश्चर्य की बात है कि एक सामान्य महिला ने ही तुम्हें पराजित कर दिया।" यह सुनकर हनुमान ने दिनकर की भर्त्सना करते हुए कहा – अरे दिनकर, तुम यह क्या कह रहे हो ? जिनेन्द्र के सिवाय संसार में दूसरा कौन पुरुष है जो महिला से पराजित न हुआ हो ? किन्तु वीर पुरुष निरन्तर ही वीरता को आदर देता आया है। अपनी पराजय से हनुमान के मन में लंका-सुन्दरी के प्रति पर्याप्त रोष एवं बदले की भावना भड़क उठना चाहिए थी किन्तु हनुमान की वीरता से प्रभावित होकर जब लंकासुन्दरी उनसे विवाह का प्रस्ताव रखती है, तब वे उसे सहर्ष स्वीकार कर लेते हैं।[36] और इस प्रकार दो पराक्रमियों का रोष घनिष्ठ प्रेम

में परिवर्तित हो जाता है। तत्पश्चात् लंकासुन्दरी वीर हनुमान की ऐसी आज्ञाकारिणी हो जाती है कि वह उनके आदेश से वियोगिनी सीता को सुस्वादु भोजन बनाकर भी भेजने लगती है।[37]

इस प्रकार संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि पउमचरिउ के नारी पात्र भाग्य-वादी नहीं बल्कि अत्यन्त धैर्यशील, निर्भीक, साहसी एवं पुरुषार्थवादी हैं। वे कर्मसिद्धान्त में परम आस्थावान् तथा कर्मफल मे अटूट विश्वास रखनेवाले हैं। स्वयम्भू ने अपने जघन्य कोटि के नारी पात्रों को भी अधर में नहीं छोड़ा, बल्कि उनके लिए भी एक ऐसा वाता-वरण प्रस्तुत किया है जिससे वे अपने दुष्कर्मों के प्रति पश्चात्ताप कर भौतिक सुखों की क्षणिकता का स्वयं ही अनुभव कर सकें और वैराग्योन्मुख होकर शाश्वत-सुखों की प्राप्ति हेतु प्रयत्नशील हो सकें। इस रूप में नारी को पुरुष की दासता से मुक्ति का मार्ग दिखाने, स्वतन्त्र रूप से आत्म-विकास करने तथा उसके लोकमंगल की कामना करने की कवि स्वयम्भू की यह भावना निस्संदेह ही मौलिक मानी जायगी। इसी कारण नारी-जगत् उन्हें कभी भी विस्मृत नहीं कर सकेगा।

---

1 पउमचरिउ, 49.12.6
2 वही, 27.3.4
3 वही, 54.2.9
4 वही, 32.8.9
5 वही, 36.5.4
6 वही, 41.12
7 वही, 42.7.3-6
8 वही, 49.17.2-3
9 वही, 49.9.9-10
10 वही, 50.12.2
11 वही, 50.12.5-11
12 वही, 81.15.1-2
13 वही, 83.6.1, 8-9
14 वही, 83.8.8-10, 83.9.1-6
15 वही, 83.7.5
16 वही, 83.11.9-10, 83/12, 13, 14, 15, 16
17 वही, 83.18-20, 85.12.2
18 वही, 38.9-12
19 वही, 21.3-8
20 वही, 36.6-7
21 वही, 37.6
22 वही, 37.3
23 वही, 37.2.2
24 वही, 37.2.7-8
25 वही, 41.4-4
26 वही, 41.8-9
27 वही, 49.16, 49.20
28 वही, 49.14, 15
29 वही, 49.16.1-2
30 वही, 49.16.3-4
31 वही, 41.11, 12
32 वही, 70.1-2, 74.2.7-9, 74.4
33 वही, 76.3-4
34 वही, 76.19-20
35 वही, 48.11.6-10
36 वही, 48.15
37 वही, 50.11

पउमचरिउ की सूक्तियाँ

– श्री भँवरलाल पोल्याका

□

"सूक्ति" शब्द की व्युत्पत्ति है सु=सुष्ठु, सुन्दर+उक्ति=वचन, वाक्य। जो सुनने में सुन्दर, मनोहारी और कर्णप्रिय हो वह "सूक्ति" कहलाती है किन्तु यह तो इसका केवल निरुक्ति-सम्मत अर्थ हुआ। "सूक्ति" शब्द का वास्तविक तात्पर्य इतना ही नहीं होता, इससे कुछ अधिक होता है।

जो हितकारी हो वह साहित्य कहलाता है। साहित्य की यह परिभाषा पूर्णरूप से सूक्ति पर चरितार्थ होती है। अहितकारी वाक्य कभी भी सूक्ति नहीं कहला सकता। "सूक्ति" मानव के हजारों वर्षों के अनुभव का निचोड़ होती है। अमुक सूक्ति कब किसने क्यों कही इसका कोई पता इतिहास से नहीं लगाया जा सकता क्योंकि एक ही अभिप्राय को द्योतित करनेवाली सैंकड़ों सूक्तियाँ विश्व की प्रत्येक भाषा में उपलब्ध होती हैं। सूक्ति साहित्यकार तक ही सीमित नहीं रहती, जन-जन तक उसकी पहुँच होती है। प्रत्येक व्यक्ति चाहे वह शिक्षित हो अथवा अशिक्षित, वृद्ध हो, युवा हो, बाल हो, स्त्री हो, या पुरुष हो अपने वार्तालाप में अवश्य एक दो सूक्तियों का प्रयोग कर ही डालता है।

"सूक्ति" हितकारी होने के साथ-साथ त्रैकालिक सत्य का प्रतिपादन करती है। "सूक्ति" जो अभिप्राय प्रकट करती है वह वैसा ही सत्य उसके कहने से पूर्व भी था और भविष्य में भी रहेगा। "सूक्ति" अन्यथा अथवा विरुद्ध अर्थ का प्रतिपादन नहीं करती।

"सूक्ति" थोड़े शब्दों में अधिक अभिप्राय प्रकट करनेवाली होती है। "गागर में सागर" वाली उक्ति सूक्ति पर पूर्णतया लागू होती है। वह कम से कम शब्दों में अधिक और गम्भीर बात कह देती है। वह श्रोता के हृदय पर सीधा प्रभाव डालती है। वक्ता की अपने कथन की पुष्टि करने की सहज इच्छा होती है। उस इच्छापूर्ति में सूक्तियाँ उसकी सहायता करती हैं। "सूक्ति" सुनकर एक बार तो श्रोता को वक्ता से सहमत होना ही पड़ता है। श्रोता पर अपने कथन का यथेष्ट प्रभाव उत्पन्न करने का यदि कोई सर्वश्रेष्ठ साधन है तो वह सूक्ति ही है।

"सूक्ति" साहित्य का शृंगार है। जिस प्रकार शृंगार स्त्री की सुन्दरता में चार चाँद लगा देता है उसी प्रकार सूक्तियाँ भी साहित्य की मनोहारिता में वृद्धि करती हैं। इसीलिए प्रत्येक साहित्यकार अपनी रचना में सहज स्वाभाविक रूप से इनका प्रयोग करता है। महाकवि स्वयंभू और उनके पुत्र त्रिभुवन भी इसके अपवाद नहीं हैं। स्वयंभू ने तो अपनी रचना "पउमचरिउ" में "होन्तु सुहासिय वयणाइँ" (1.1.11) कहकर कामना की है कि मेरे ये वचन सुभाषित हों। अपनी उक्त रचना में यथावसर उनका प्रयोग करने से वे नहीं चूके हैं। उक्त ग्रन्थ की कुछ सूक्तियों का रसास्वादन हम पाठकों को निम्न पंक्तियों में करा रहे हैं –

1. **पिसुणे किं अब्भत्थिएँण जसु को वि ण रुच्चइ।**
   किं छणचन्दु महागहेण कम्पन्तु वि मुच्चइ॥ 1.3.14

ऐसे दुष्ट पुरुष की जिसे कुछ भी अच्छा नहीं लगता, अभ्यर्थना करने से क्या लाभ ? क्या महाग्रह राहु (डर से) कांपते हुए पूर्णिमा के चाँद को मुक्त कर देता है ? अर्थात् नहीं करता।

2. **तिह जीवहि जिह परिभमइ कित्ति।** 7.12.1
   जीना ऐसे जिससे कीर्ति फैले।

3. **तिह हसु जिह ण हसिज्जइ जणेण।** 7.12.2
   ऐसे हंसो जिससे दूसरों की हंसी के पात्र न बनो।

4. **तिह भुज्जु जिह ण मुच्चहि धणेण।** 7.12.2
   भोगों को इसप्रकार भोगो कि धनहीन न बन जाओ।

5. **तिह तजु जिह पुणु वि ण होइ संगु।** 7.12.3
   त्याग ऐसा करो कि पुन: उसे ग्रहण न करना पड़े।

6. **तिह चउ जिह वुच्चइ साहु साहु।** 7.12.4
   दान ऐसा दो कि सब धन्य-धन्य कहने लगें।

7. **तिह मरु जिह णावहि गब्भवासें।** 7.12.5
   मरण ऐसा हो कि पुन: जन्म धारण न करना पड़े।

8. **तिह तउ करें जिह परिसवइ गत्तु।** 7.12.6
   तप ऐसा करो कि जिससे शरीर शुद्ध हो जाये।

9. **तिह रज्जु पालें जिह णवइ सत्तु।** 7.12.6
   राज ऐसा करो कि शत्रु भी झुक जाय।

10. **किं दव्वे दाणविवज्जिएण।** 7.12.8
    ऐसे द्रव्य से क्या लाभ जो दान में न दिया जा सके ?

11. **किं पुत्तें मइलइ वंसु जेण।** 7.12.9
    ऐसे पुत्र से क्या लाभ जिससे वंश कलंकित हो ?

12. **किं कायरणर विद्धंसणेण।** 10.12.3
कायर पुरुष को मारने से क्या लाभ ?

13. **णिच्छउ ववसायविहूणउ कवणु ण आवइ पाविय।** 13.5.10
निश्चय ही व्यवसायरहित मनुष्य पर कौन-सी विपत्तियाँ नहीं आतीं ?

14. **किं तमु हणइ ण बालु रवि, किं बालु दवाग्गि ण डहइ वणु।**
किं करि दलइ ण बालु हरि, किं बालु ण डंकइ उरगमणु॥ 21.6.9
क्या बाल सूर्य अंधकार का नाश नहीं करता ? क्या छोटी-सी दावाग्नि सारे वन को नहीं जला डालती ? क्या सिंह का बच्चा हाथी को नहीं मार देता ? क्या सर्प का बच्चा डसता नहीं ?

15. **वरि तं कम्मु हिउ जं पउ अजरामरु लब्भइ।** 22.2.9
वही कार्य करना ठीक है जिससे अजर-अमर-पद की प्राप्ति हो।

16. **तणु तणु जें खणद्धें खय होँ जाइ।** 22.3.7
यह शरीर तिनके के समान आधे क्षण मे ही नष्ट हो जाता है।

17. **पुत्तहो पुत्तत्तणु एत्तिउं जे, जं कुलु ण चडाइ वसणपुञ्जें।** 22.9.6
पुत्र का पुत्रत्व इसी में है कि वह कुल को संकट में न डाले।

18. **किं पुत्तें पुणु पयपूरणेण, गुणहीणें हियवविसूरणेण।** 22.9.8
गुणहीन हृदय को पीड़ा पहुँचानेवाले नाममात्र के पुत्र से क्या लाभ ?

19. **सच्चें अम्बरें तवइ दिवायरु, सच्चें समउ ण चुक्कइ सायरु।**
सच्चें वाउ वाइ महि पच्चइ, सच्चें ओसहि खय हों ण वच्चइ॥
23.2.10-11

सत्य से आकाश में सूर्य तपता है, सत्य से ही समुद्र अपनी मर्यादा का उल्लंघन नहीं करता, सत्य से ही हवा चलती है, सत्य से ही पृथ्वी सब कुछ सहन कर लेती है।

20. **रज्जु असारु वारु संसार हों, रज्जु खणेण णेइ तम्वार हो।**
रज्जु भयंकरु इह परलोय हों, रज्जे गमइ णिच्च णिगोय हों॥ 24.3.3-4
राज्य में कोई सार नहीं है, वह संसार का कारण है और क्षण मात्र से ही विनाश की ओर प्रवृत्त कर देता है। राज्य इहलोक और परलोक दोनों में भयंकर है, नित्य निगोद का कारण है।

21. **धम्म पावकप्पद्दुमहूँ आयइ जस-अपजस-बहुलाइँ।**
वेण्णि मि असुहसुहंकरइँ जाइँ पियइँ लइ ताइँ फलाइँ॥ 28.9.11
धर्म और पापरूपी कल्पवृक्षों के यश और अपयशरूपी फल फलते हैं जो सुख-दुःख के देनेवाले हैं। इनमें से जो अच्छा लगे वह ले लो।

22. **धरण हों को ण वि करइ महायरु।** 28.12.4
ऐसा कौन है जो धन का आदर नहीं करता ? सब ही करते हैं।

23. **अत्थु अणंगु अत्थु जगें सुहउ, अत्थविहूणु दीणुराणु दूहउ।**
अत्थु लइच्छिउ भुञ्जइ रज्जु, अत्थविहूणों किं पि ण कज्जु। 28.12.9-10
इस संसार में धन ही कामदेव और शुभ है, धनहीन मनुष्य दीन और दुःखी होता है। धन से मनोवांछित राज्य का उपभोग किया जा सकता है। धनहीन का कोई भी कार्य सफल नहीं होता।

24. **दोस वि गुण हवन्ति संसग्गिएँ।** 29.3.7
संसर्ग से दोष भी गुण हो जाते हैं।

25. **वइरइँ ण कुहन्ति होन्ति ण जज्जरइँ।** 33.7.9
वैर न तो नष्ट होता है न जीर्ण।

26. **सयलु वि उत्तिमपुरिसपसंगें।** 35.3.5
उत्तम पुरुष की संगति से सब कुछ संभव है।

27. **वरि एक्कलओ वि पंचाणणु, ण उ सारंग णिवहु उण्णाणणु।**
वरि एक्कलओ वि मयलंछणु ण णक्खत्तणिवहु णिल्लंछणु। 38.2.3-4
मुख ऊँचा किये मृगसमूह से सिंह अकेला ही अच्छा, लांछनरहित तारासमूह से लांछनसहित चन्द्रमा अच्छा।

28. **विहि तेत्तडउ देइ जं विहियउ।** 42.8.2
विधाता उतना ही देता है जितना भाग्य मे होता है।

29. **जायहों जीवहों सव्वहों विणासु।** 45.7.7
जो जीव जन्मता है उसका मरण भी निश्चित है।

30. **णिय पह परिहरइ किं मणि चामियरणिबद्धउ।** 46.11.10
सोने में जड़ी हुई मणि क्या अपनी चमक छोड़ देती है ?

31. **तासु किं णासेंवि सक्कियइ कम्महों पुव्वकियासु।** 53.2.7
पूर्वकृत कर्म का नाश कौन कर सकता है ?

32. **जो जस भायणु सो तं धरइ।** 53.3.7
जो जैसा पात्र होता है वैसा ही पदार्थ उसमें रखा जाता है।

33. **को कासु सव्वु मायातिमिरु, जलबिन्दु जेम जीविउ अथिरु।**
सम्पत्ति समुद्दतरंग णिह, सिय चञ्चल विज्जुललेह जिह॥ 54.5.5-6
इस संसार में कौन किसका है ? सब माया का अन्धकार है, जीवन जल-बिन्दु के समान अस्थिर है, सम्पत्ति समुद्र की लहरों की तरह और लक्ष्मी बिजली की रेखा की भांति चंचल है।

34. **जावेंहि जीवहों ढुक्कइ मरणु, तावेंहिं जगें णाहिं को वि सरणु।** 54.6.3
जब जीव की मृत्यु आती है तो उसे कोई भी शरण नहीं दे सकता।

35. **जणु कज्जवसेण सुहरसियउ पिय जम्पणउ।** 54.8.10
लोग स्वार्थवश मीठा और प्रिय बोलते हैं।

36. गिरिवर उवरि विहंगम गच्छइ, तो किं तोव्वं होइ बलवन्तउ । 55.4.5
पहाड़ के ऊपर से पक्षी निकल जाता है तो क्या इससे वह पहाड़ से बड़ा बन जाता है ?

37. जइ णासइ सियालु विवराणणु, तो किं तहों कसइ पंचाणणु । 55.6.7
यदि शृगाल गुफा का मुख नष्ट करदे तो क्या सिंह उससे रुष्ट हो जाता है ?

38. सुहि जे सूलु पडिकूलयउ, पर सहोयरु जो अणु कूलइ ।
ओसहु दूरुप्पण्णउ वि, वाहि सरीर हों कड्ढे वि घत्तइ ॥ 57.9.1
मित्र यदि प्रतिकूल चले तो वह कांटा है और शत्रु यदि अनूकूल चले तो वह सगा भाई है। दूर उत्पन्न हुई दवा भी रोग को शरीर से दूर कर देती है।

39. मरणकालें आसण्णे थिएँ सव्वहों होइ चित्तु विवरेरउ । 57.3.7
मरणकाल समीप होने पर सब की बुद्धि बिपरीत हो जाती है।

40. आयइँ सव्वइँ लब्भन्ति जएँ णवर ण लब्भइ भाइवरु । 69.12.9
युद्ध में जीतने पर सबकुछ मिल सकता है किन्तु सहोदर भाई नहीं मिल सकता।

41. अकुसलु कुसलेहिँ ण जुज्झेवहु । 70.3.5
कुशल लोगों को अकुशल लोगों से नहीं लड़ना चाहिए।

42. किं जोइज्जइ सीहु कुरंगेंहिँ, किं वसि किज्जइ गरुडु भुयङ्गेंहिँ ।
किं खज्जोएँहिँ किउ रविणिप्पहु किं वणु तिणेंहिँ धरिज्जइ हुयवहु ॥
70.10 4-5
क्या हरिण सिंह की ओर देख सकते है ? क्या सर्प गरुड़ को वश मे कर सकते हैं ? क्या खद्योत सूर्य को प्रभाहीन कर सकते हैं और क्या तिनका वन में आग लगा सकता है ?

43. चोर-जार-अहि-वइरहु हुयवह-डमरहुँ जो अवहेरि करेहि णरु ।
सो अइरेण विणासइ वसणु पयासइ मूलतरुक्खउ जेम तरु ॥ 71.12.10
चोर, जार, सर्प, शत्रु और आग की जो अवहेलना करता है वह उसी प्रकार शीघ्र नष्ट हो जाता है जिस प्रकार बिना मूल का पेड़।

44. जेण समाणु रोसु सो हम्मइ, अवसें सहुँ अवसाणु गम्मइ । 77.17.3
जिसका जिससे वैर होता है उसका उसकी मृत्यु के पश्चात् भी अन्त नहीं होता।

45. जइ कालभुअंगु ण उवडसइ तो किं सुरवइ सग्गहों खसइ । 78.3.1
यदि कालरूपी सर्प नहीं डसता तो क्या इन्द्र स्वर्ग से च्युत होता ?

46. णिय जम्मभूमि जणणिएँ सहिय, सग्गं वि होइ अइ दुल्लहिय । 78.17.4
अपनी जन्मभूमि और माँ स्वर्ग से भी अधिक प्रिय होती है।

47. **बोल्लिज्जइ तं जं णिव्वहइ** । 80.4.2
जितना निभ सके उतना ही बोलो।

48. **लोउ सहावें दुप्परिपालउ विसमचित्तु परछिद्द णिहालउ** । 81.4.4
लोगों का स्वभाव दुष्परिपालनीय और चित्त विषम होता है, वे सदा पर-छिद्रान्वेषण करते रहते हैं।

49. **जइ समुद्द णिय-समय हो ँ चुक्कइ, तो तहो ँ को सवडम्मुहु ढुक्कइ** । 81.7.2
यदि समुद्र अपनी मर्यादा तोड़ दे तो उसके सम्मुख कौन ठहर सकता है ?

50. **जं जेण जेम्व कम्मउ कियउ, तं तहो ँ तेव समावडइ** । 81.9.10
जो जब जैसा कर्म करता है, उसको वहाँ वैसा ही फल मिलता है।

51. **सव्वहो विलसइ कम्म पुराइउ** । 81.10.1
सबको अपने पूर्वोपार्जित कर्मों का फल भोगना पड़ता है।

52. **सोक्खहो ँ अणुदिणु पेसणु करें ँ वि णवरि ण एक्कु वि सेवाहो ँ** । 81.11.10
आदमी अपने सुख के लिए दिन-रात सेवा करता है किन्तु उसे एक भी सुख नहीं मिलता।

53. **जो हणइ सो जिणइ रिउ णिरुत्तु** । 81.8.5
जो मार सकता है वह ही शत्रु को युद्ध में जीत सकता है।

54. **जमें ँ कामें ँ को वि ण वढउ स सरें कुसुम-सरासणे ँण** । 83.1.10
जब कामदेव फूलों का तीर-कमान लेकर निकलता है तो वह किसको अपने वश में नहीं कर लेता ?

55. **साणु ण केण वि जणेण गणिज्जइ,**
गंगा णइहिँ सं जि ण्हाइज्जइ । 83.9.1
कुत्ता यदि गंगास्नान करले तो भी कोई उसका आदर नहीं करता।

56. **तं तिलमित्तु वि किंपि ण वि जासु ण दीसइ भुवणे विणासु** । 86.16.11
इस संसार में तिलमात्र भी ऐसी वस्तु नहीं है जिसका विनाश निश्चित न हो।

ये ही नहीं अन्य सैंकड़ों ऐसी सूक्तियाँ पउमचरिउ एवं कवि की अन्य रचनाओं में मिलती हैं जिन्हें पढ़कर पाठक संसार को देखने की कवि की सूक्ष्मदृष्टि की प्रशंसा तो करेंगे ही, उनका मन भी उनको याद करने हेतु ललचा उठेगा।

पउमचरिउ में भरत-बाहुबलि प्रसंग

– श्री श्रेयांशकुमार सिंघई

☐

स्वयंभू कृत "पउमचरिउ" अपभ्रंश का ललित और गेय रामाख्यान है। इसमें आचार्य रविषेण कृत पद्मपुराण में वर्णित कथाप्रसंगों का सार संकलित है। कवि स्वयं आचार्य रविषेण के दाय को स्वीकार करता है –

"एह रामकह सरि सोहन्ती गणहर देवहिं दिट्ठ वहन्ती।
पुणु रविसेणायरिय पसाएं बुद्धिएं अवगाहिय कइराएं।। 2.6.9

आरम्भिक औपचारिकता निर्वाह और चतुर्विंशति तीर्थवन्दना के बाद कवि भगवान् महावीर की सभा उपस्थित करता है, जिसमें राजा श्रेणिक जिनशासन के अनुकूल रामकथा सुनना चाहता है। स्वयंभू स्वयं गणधर के माध्यम से रामकथा सुनाते हैं, पर लम्बी-चौड़ी भूमिका बनाने के बाद। इसी भूमिका में अनुस्यूत "भरत-बाहुबलि प्रसंग" प्रकृत में अपेक्षणीय है।

भरत-बाहुबलि से सम्बन्धित अन्य सभी प्रसंगों को कवि मन में ही कहकर "चक्र-रत्न अयोध्या में प्रवेश नहीं करता" – इस बिन्दु से अपनी बात प्रारम्भ करता है। वह लिखता है – "जिसप्रकार पिता ने महान् तप से केवलज्ञान प्राप्त किया, उसी प्रकार पुत्र ने जूझते हुए अपने भुजबल से धरती प्राप्त की।[1] जय की आशा से साठ हजार पूर्व वर्षों के बाद भरत अयोध्या में प्रवेश करते हैं, परन्तु नया और पैनी धारवाला कलहप्रिय उनका चक्ररत्न उसमें प्रवेश नहीं करता।[2]

चक्ररत्न अयोध्या में प्रवेश नहीं करता – इतनी-सी बात को कवि अपनी मौलिक सूझबूझ से संवारता है और देखिये वह कितनी रोचक, नीतिनिधान एवं प्रेरणापुंज बन जाती है। बानगी प्रस्तुत है –

"जिस प्रकार अज्ञानी में सुकवि की वाणी, ब्रह्मचारी के मुख में कामशास्त्र, गोठ-प्रांगण में मणिरत्न, बार के खूंटे में गजसमूह, दुर्जनों के बीच सज्जनसमूह, कृपण के घर

भिक्षुक, शुक्लपक्ष में कृष्णपक्ष का चन्द्रमा, निर्धनजन में कामिनी, दूरभव्य में सम्यग्दर्शन, दुर्गन्धित वन में मधुकरी कुल, ज्ञानी के कान में गुरुनिन्दा, संसार में परमसुख, पापकर्म में उत्तम जीवदया, प्रथमा विभक्ति में तत्पुरुष समास प्रवेश नहीं करता, उसी प्रकार चक्ररत्न ने अयोध्या में प्रवेश नहीं किया।"[3]

स्वयंभू के भरत अयोध्या के द्वार पर स्थिर हुए चक्र को स्वयं देख लेते हैं और क्रोधावेश में गरजने लगते हैं – "यश और जय के रहस्य से भिज्ञ मन्त्रियो ! बताओ क्या कोई अभी भी असिद्ध (अजेय) बचा है ?"[4]

मन्त्रियों ने कहा, "देव ! छह खण्ड धरती, नौ निधियाँ, चौदह रत्न आदि सब सिद्ध हो चुके हैं पर एक स्वाभिमानी सिद्ध नहीं हुआ, वह है आपका छोटा भाई, तीर्थंकर का पुत्र, सवा पाँच सौ धनुष प्रमाण काया वाला, चरमशरीरी, अस्खलितमान, जयलक्ष्मी का घर, दुर्वार वैरियों के लिए काल, बल में विशाल पोदनपुर नरेश बाहुबलि।"[5]

वे बाहुबलि को भरत से अधिक पराक्रमी मानते थे तभी तो कहते हैं, "हे देव ! सिंह की तरह सन्नद्ध पर शान्तिप्रिय बाहुबलि यदि आ जाय तो एक ही प्रहार में आपको सेनासहित चूर-चूर करदे।"[6]

इतना सुनते ही भरत (खण्ड) के परमेश्वर भरत आपा खो बैठे और ओंठ काटते हुए बोले – "शीघ्र ही मन्त्री भेजो जो उससे (बाहुबलि से) भरतेश्वर की आज्ञा मानने को कहे। यदि न माने तो ऐसा करना जिससे वह हमसे भिड़ जाय।"[7]

सिखाये हुये मन्त्री पोदनपुर पहुँचे। बाहुबलि ने उनका आदर किया और आगमन का कारण पूछा। मन्त्री बोले – "भरत और तुममें भेद नहीं है तो भी तुम उनसे जाकर मिलो। जिस प्रकार अन्य अट्ठानवें भाई भरत की सेवा कर जीते हैं उसी प्रकार तुम भी अभिमान छोड़ राजेश्वर भरत की सेवा अंगीकार करो।"[8]

बाहुबलि बोले – "एक बाप की आज्ञा और एक उनकी धरती, दूसरी कोई भी आज्ञा अस्वीकार है। दीक्षा लेते हुए परमपिता परमेश्वर ने जो राज्य मुझे दिया वही मेरा सुखनिधान है। मैंने किसी का बुरा नहीं किया, मैं अपनी धरती का स्वामी हूँ। न किसी से कुछ लेता हूँ, न देता हूँ और न ही उसके पास जाता हूँ। क्या मैं उसकी कृपा से राज्य करता हूँ ?"[9]

यह सुनकर मन्त्री भड़क उठे – "अवश्य यह भूमण्डल पिता द्वारा तुम्हें मिला, परन्तु इसका फल अनेक चिन्ताएं हैं, बिना कर दिये ग्राम, सीमा, खल और क्षेत्र तो क्या ? सरसों के बराबर भूमि भी तुम्हारी नहीं है।"[10]

फिर क्या था ? प्रलम्बबाहु बाहुबलि क्रुद्ध होकर बोले – "किसका राज्य ? कौन भरत ? जैसा भी तुम्हें जंचे सब मिलकर मेरा बिगाड़ कर लो। यदि वह एक चक्र पर अभिमान करता है तो कल मैं उसे ऐसा कर दूंगा जिससे उसका दर्प चूर-चूर हो जायगा।"[11]

अब हम इसी सन्दर्भ में आचार्य जिनसेन का मन्तव्य प्रकट करते हैं –

"अयोध्या में चक्ररत्न को अप्रविष्ट देख रक्षक देवों ने आश्चर्य किया, अन्य लोग भी मोहित हुए।[12] अभी भी कोई जेतव्य शेष है – ऐसा विचार करते हुए सेनापति आदि प्रमुख लोगों ने चक्रवर्ती से तदर्थ निवेदन किया।[13] विचारशील चक्रवर्ती ने पुरोहित को बुलाया और गम्भीरतया विमर्श कर[14] चक्र रुक जाने के युक्तिसंगत कारण को खोजने हेतु कहा।[15]

पुरोहित ने विनम्रता से कहा – हे देव ! आपने समस्त बाह्य अरिमण्डल को जीत लिया है परन्तु अभी भी अन्तर्मण्डल में स्थित शत्रु बकाया है, अर्थात् आपके भ्राता आपके समक्ष नम्र नहीं हैं।[16] सभी निन्यानवे भाई धीर, वीर और स्वाभिमानी हैं, बाहुबलि उन सबमें विशिष्ट है। सभी का दृढ़ निश्चय है कि वे भगवान् आदिनाथ के अलावा किसी को भी नमन नहीं करेंगे।[17]

इतना सुनकर भरत क्रोधावेश में कठोर वचन कहने लगे – क्या कहा ? क्या कहा ? वे दुष्ट भाई मुझे प्रणाम नहीं करते। अच्छा, तो तू उन्हें मेरे दण्डरूपी उल्कापात से टुकड़े किये हुए देख।[18]

पुरोहित ने कहा – महाराज क्षमा से ही क्षमा (पृथ्वी) को जीता जाता है, आप दूत भेजकर नतमस्तक होने का प्रस्ताव रखिये यदि नहीं माने तो विग्रह कीजिये।

दूत भेजे गये।

दूतों के सन्देश से विरक्त हो बाहुबलि के अतिरिक्त अन्य सभी अट्ठानवे भाइयों ने जैनेश्वरी दीक्षा अंगीकार करली,[19] परन्तु भरत को प्रणाम नहीं किया।

साम-दाम-दण्ड-भेद की नीति में निपुण एक दूत ने बाहुबलि से भी भरत का वर्चस्व स्वीकार करने को कहा। वह बहुत चतुर था पर बाहुबलि ने अपने धैर्य और शौर्यमय कौशल से उसे चुप कर दिया और कहा – हे दूत ! तू जा और हमारा सन्देहरहित सन्देश अपने स्वामी को सुना कि अब तो हम दोनों का जो भी होना है वह युद्ध की भीड़ में होगा।[20] ध्यानाकर्षण हेतु निम्न तथ्य ध्यातव्य हैं –

1. स्वयंभू के भरत क्रोधोद्धत एवं गाम्भीर्यहीन लगते हैं जबकि जिनसेन भरत का धीरोद्धत चरित प्रस्तुत करते हैं।

2. स्वयंभू के अनुसार चक्र के रुक जाने पर मन्त्रियों ने परामर्श दिया कि मात्र बाहुबलि को जीतना बाक़ी है परन्तु जिनसेन के अनुसार अन्य अट्ठानवे भाई भी तब तक अजेय थे।

3. स्वयंभू के भरत बिना विचारे कोपाभिभूत हो बाहुबलि के पास मन्त्री भेजकर जबरदस्ती अपनी आज्ञा मनवाना चाहते हैं अन्यथा लड़ाई उन्हें इष्ट है परन्तु जिनसेन के भरत सलाह मशविरा कर मर्यादानुकूल कार्य करते हैं।

4. पउमचरिउ में बाहुबलि के पास गये दूत कहते हैं कि जिस प्रकार अन्य अट्ठानवे भाई भरत की सेवा करके जीते हैं, उसी प्रकार तुम भी उनकी सेवा

अंगीकार करो। किन्तु जिनसेन ऐसा नहीं मानते। उनके अनुसार किसी ने भी भरत की सेवा स्वीकार नहीं की थी वे तो जिनदीक्षा लेकर भरत के सेव्य (पूज्य) बन गये थे।

पोदनपुर से प्रत्यावर्तित दूत ने भरत से कहा – "हे देव ! वह बाहुबलि तुम्हें तिनके के बराबर भी नहीं समझता। मान में महनीय वह आपकी आज्ञा का तिरस्कार कर युद्ध को तत्पर है।" यह सुनते ही आगबबूला हो भरत ने प्रस्थान की भेरी बजवा दी।[21]

आदेश होते ही दल-बल-सहित अठारह अक्षौहिणी सेना पोदनपुर पहुँच गई। बाहुबलि तैयार थे ही, सात अक्षौहिणी सेना लेकर आ डटे।

स्वयंभू के अनुसार दोनों सेनाएं एक दूसरे को ललकारती हुई भिड़ गईं, कोलाहल होने लगा, रथ हांक दिये गये, हाथी प्रेरित किये जाने लगे, लगातार अस्त्र छोड़े-जाने लगे, रथों की जोतें कट गयीं, धुरे टुकड़े-टुकड़े हो गये, नितम्ब कट गये, उर छिद गये, भुजायें कट गयीं, सिर गिरने लगे, कन्धे काँपने लगे, कबन्ध नाचने लगे इत्यादि।[22] सेनाओं को नष्ट होते देख मन्त्रियों ने रोका कि लड़ो मत, बेचारे योद्धाओं के वध से क्या ? अच्छा है यदि दृष्टियुद्ध करो।[23]

प्रकृत में जिनसेन की सम्मति के अनुसार स्पष्ट है कि दोनो सेनाएं आमने-सामने सन्नद्ध थीं पर स्वयंभू के अनुरूप युद्ध नहीं हुआ था। आदिपुराण मे उल्लिखित है –

"दोनों पक्षों के प्रमुख मन्त्रियों ने विचार किया कि क्रूरग्रहों के समान इन दोनों का यह युद्ध शांति के लिए नहीं है। इस युद्ध के बहाने उभयपक्ष में सैन्यबल के साथ नरसंहार ही होगा, चरम शरीरी होने से इन दोनों की जरा भी क्षति नहीं होगी। इस प्रकार जनसंहार से भीतमन मन्त्रियों ने भरत और बाहुबलि दोनों की राय (आज्ञा) लेकर धर्मयुद्ध की घोषणा कर दी। एतदर्थ दोनों के बलपरीक्षण हेतु दृष्टि, जल और मल्ल-युद्ध निश्चित किये गये। उनमें जो भी विजयी होगा वह स्वतः ही विजयलक्ष्मी का पति हो जायगा।"[24]

स्वयंभू का मन्तव्य भी यही है। वे बहुत ही स्पष्ट और सटीक शब्दों में कहते हैं – "पहले दृष्टि-युद्ध किया जाय फिर जल-युद्ध और मल्ल-युद्ध। जो तीनों युद्ध जीत लेता है उसकी ही निधियां, उसके ही रत्न और उसी का राज्य।[25]

अपने कौशल और पुण्य के प्रताप से बाहुबलि ने तीनों ही युद्धों में विजय पाई। अभी बाहुबलि भरतेश्वर को अपने कन्धों पर बैठाये ही थे, नीचे नहीं पटका था कि देवों ने बाहुबलीश्वर के ऊपर पुष्पवृष्टि की, सेनाओं में तुमुलघोष हुआ और हर्षध्वनि के साथ बाहुबलि के विजय की घोषणा कर दी गई। परन्तु नरनाथ भरत व्याकुल हो उठे, क्रोध में सब कुछ भूलकर उन्होंने चक्ररत्न का चिन्तन किया और बाहुबलि पर चक्र छोड़ दिया। चरमशरीरी बाहुबलि बच गये, ऐसा लगा मानो दिनकर ने मेरु की प्रदक्षिणा की हो।[26]

भरत की इस अनीति से सभी हतप्रभ हो गये, उन्हें धिक्कारा भी गया, पर बाहुबलि तो वैराग्य रस में मग्न हुये। समपैतृक भ्राता भरत ने ही जब बाहुबलि पर चक्र छोड़ा तो बाहुबलि ने सोचा – "क्या मैं आज इसे (प्रभु चक्रेश्वर को) धरती पर गिरा

हूँ ? नहीं, नहीं मुझे धिक्कार है, मैं राज्य छोड़ता हूँ क्योंकि इस राज्य के लिए अनुचित किया जाता है, भाई, बाप और पुत्रों तक को मार दिया जाता है। इससे क्या लाभ ? मैं अब मोक्ष की साधना करूँगा। मन मे ऐसा विचार करते हुए बाहुबलि ने नराधिप को बच्चे की भाँति रख दिया और कहा – हे भाई ! तुम मेरी धरती (राजश्री) का उपभोग करो। सोमप्रभ भी तुम्हारी सेवा करेगा। इस प्रकार वे भरत को निःशल्य कर, स्वयं निर्ग्रन्थ बन पाँच मुट्ठियों से केशलोंच कर प्रव्रजित हो गये।[27] प्रकृत में विचारणीय बिन्दु हैं –

1. भरत ने बाहुबलि के कन्धे पर स्थित रहकर ही चक्र चलाया था। आचार्य जिनसेन इससे सहमत हैं।[28]
2. बाहुबलि ने अपनी धरती (राजलक्ष्मी) भरत को सौंपी थी या अपने पुत्र महाबली को। आचार्य जिनसेन महाबली के पक्ष में हैं।[29]
3. सोमप्रभ कौन था ? जो भरत की सेवा करेगा।

तदनन्तर जितेन्द्रिय बाहुबलि ने एक वर्ष तक प्रतिमायोग धारण किया और सुमेरु की तरह अकम्पित अविचल हो गये। बड़ी-बड़ी लताओं, सांपों, बिच्छुओं और वामियों ने उन्हें घेर लिया मानो संसार की भीतियों ने ही कामजयी बाहुबलि को घेरा हो।[30]

भरत ने अयोध्या मे प्रवेश किया तथा कुछ दिन बाद कैलाशगिरि पर प्रतिष्ठित भगवान् ऋषभदेव की वन्दना भक्ति करने समवशरण में गया। वन्दना कर उसने पूछा – प्रभो ! क्या कारण है जो आज तक बाहुबलि को केवलज्ञान नहीं हुआ ?[31]

परमेश्वर ने दिव्यभाषा में कहा – आज भी ईषत्कषाय उसके मन में है कि उसने तुम्हारी धरती चांप रखी है, इसीलिए प्रव्रज्या लेने के बाद भी वे केवलज्ञान नहीं पा सके।[32] यह सुन, बाहुबलि जहाँ ध्यानस्थ थे भरत वहाँ गये और उनके चरणों में पतित बन बोले – "पृथ्वी तुम्हारी है, हम तो तुम्हारे दास हैं।[33]

संयोग से इसी समय बाहुबलि को केवलज्ञान हुआ, घातिया कर्म नष्ट हो गये, अतिशय भी हुए तथा थोड़े ही दिनों में अवशिष्ट अघातिया कर्मों का अभाव होने पर वे सिद्ध हो गये।

भरत ऋषभदेव की सभा में गये और उन्होंने पूछा कि भगवन् ! क्या कारण है जो आज तक बाहुबलि को केवलज्ञान नहीं हुआ ? – यह तथ्य संभवतः स्वयंभू ने स्वयं जोड़ा हो या किंवदन्तियों के आधार पर लिखा हो। जैन परम्परा में सर्वमान्य आचार्य जिनसेन का अभिप्राय इससे भिन्न है। उनके अनुसार "दीक्षा ग्रहण करते समय बाहुबलि द्वारा गृहीत एक वर्ष का उपवास (प्रतिमायोग) समाप्त होने पर भरतेश्वर ने स्वयं आकर उनकी पूजा की थी।"[34] यह भरत का नैतिक कर्तव्य भी था क्योंकि उन्हें पता था कि आज के दिन बाहुबलि स्वामी का उपवास पूर्ण होगा।

जिनसेन के अनुसार बाहुबलि को यह शल्य नहीं थी कि वे भरत की धरती पर खड़े हैं, अपितु यह थी कि "भरतेश्वर मुझसे संक्लेश को प्राप्त हुए।"[35] भरत ने पूजा की

और उनका हृदयशल्य रहित हो गया, उसी समय उन्हें केवलज्ञान भी हो गया। ऐसा लगा मानो केवलज्ञान ने भरत द्वारा पूजे जाने की अपेक्षा की हो।[36]

बाहुबलि के निर्वाण हो जाने के बाद ऋषभदेव भी शाश्वत-धाम निर्वाण गये। भरतेश्वर ने भी वैराग्य लाभ किया।[37]

भरत बाहुबलि के सन्दर्भ में इतना ही कथावृत्त प्रस्तुत करना स्वयंभू को इष्ट रहा है। प्रासंगिक कथ्यों के साथ रामकथा को सरल और संक्षेप परिवेश देकर तत्कालीन जनभाषा अपभ्रंश में निबद्ध कर स्वयंभू ने स्तुत्य कार्य किया है। सर्वत्र यह मानना होगा कि स्वयंभू उपमाविधान में बेजोड़ कवि हैं, थकते ही नहीं।

---

1. जिह वप्पेंण साहप्पेंण लइउ णाणु तं केवलु।
   तिह पुत्तेंण जुज्झन्तेंण स इं भुय-बलेंण महीयलु ।। पउमचरिउ, 3.13.8
2. सट्ठिहुँ वरिस-सहासहिँ पुण्णएँ-अयासहिं भरहु अउज्झ पईसरइ।
   णव णिसियरधारउ कलहपियारउ चक्करयणु ण पईसरइ ।। वही, 4.1.1
3. पइसरइ ण पट्टणे चक्करयणु। जिह अबुहब्भन्तरें सुकइ-वयणु ।।
   जिह बम्भयारि-मुहें काम-सत्थु। जिह गोट्ठंगणे मणि-रयण-वत्थु ।।
   जिह वारि-णिबन्धणे हत्थिजूहु। जिह दुज्जण-जणें सज्जणसमूहु ।।
   जिह किविण-णिहेलणें पणइ-विन्दु। जिह बहुलपक्खें खय-दिवसचन्दु ।।
   जिह कामिणि-जणुमाणुसें अदक्खें। जिह सम्मद्दंसणु दूरभव्वें ।।
   जिह महुअरिकुलु दुग्गन्धें रण्णें। जिह गुरुग रहिउ अण्णाण-कण्णें ।।
   जिह परम-सोक्खु ससारधम्में। जिह जीव-दया-वरु पाव-कम्में ।।
   पढम-विहत्तिहें तप्पुरिसु जेम। ण पईसइ उज्झहें चक्कु तेम ।। वही 4.1 1-8
4. तं पेक्खेंवि चक्कन्तउ विग्धु करन्तउ णरवइ वेहाविद्धउ।
   कहहु मन्त्रि-सामन्तहों जस-जय-मन्तहों किमहु को वि असिद्धउ ।। वही, 4.1.9
5. तं णिसुणेंवि मन्तिहिँ वुत्तु एम। जं चिन्तहि तं तं सिद्धु देव ।।
   छक्खण्ड वसुन्धरि णवणिहाण। चउदह-विहेहिँ रयणेहिँ समाण ।।
   णवणवइ सहास महाणराहुँ। बत्तीस सहास देसन्तराहुँ ।।
   अवराइ मि सिद्धइँ जाइँ जाइँ। को लक्खें वि सक्कइ ताइँ ताइँ ।।
   पर एक्कु ण सिज्झइ साहिमाणु। सयपंचसवाय-धणुप्पमाणु ।।
   तित्थंकर णन्दणु तुह कणिट्ठु। अट्ठाणवइहिं भाइहिं वरिट्ठु ।।
   पोयण-परमेसरु चरमदेहु। अक्खलिय-मरट्टु अयलज्झिणेहु ।।
   दुव्वार वइरि वीरन्तु कालु। णामेण बाहुबलि बल-विसालु ।। वही, 4 2.1-8
6. सीहु जेम पक्खरियउ खन्तिएँ धरियउ जइ सो कह वि वियट्टइ ।।
   तो सहुँ खन्धावारें एक्कपहारें पइ मि देव दलवट्टइ ।। वही, 4.2.9
7. तं वयणु सुणेंवि वट्टाहरेण। भरहेण भरह-परमेसरेण ।।
   पट्ठविय महन्ता तुरिय तासु। 'दुव्वई करे केर णराहिवासु ।।
   जइ सउ पडिवण्णु कयावि एम। ता तेम करहु महु भिडइ जेम ।। वही, 4.3.1-3

8. 'को तुहुँ को भरहु ण भेउ को वि । पुहवीसरु होसइ गम्पि सो वि ॥
जिह भायर भड्ठाणवइ इयर । कीवन्ति करें वि तहों तणिय केर ॥
तिह तुहुँ मि मडप्फरु परिहरेवि । जिउ रायहों केरी केर लेवि ॥ वही, 4.3.6-8

9. 'एक्क केर वप्पिक्की पिहिमि गुरुक्की अवर केर ण पडिच्छमि ॥
पवसन्तें परम-जिणेसरेण । जं किं पि विहज्जेवि दिण्णु तेण ॥
तं अम्हहुं सासणु सुहणिहाणु । किउ विप्पिउ एउ केण वि समाणु ॥
सो पिहिमिहें हउँ पोयणहों सामि । णउ देमि ण लेमि ण पासु जामि ॥
दिट्ठेण तेण किर कवणु कज्जु । किं तासु पसाएँ करमि रज्जु ॥ वही, 4.3.9, 4.1-4

10. 'जइ वि तुज्झु इमु मण्डलु बहु-चिन्तिय-फलु आसि समप्पिउ वप्पें ॥
गामु सीमु खलु खेत्तु वि सरिसव मेत्तु वि तो वि णाहिं विणु कप्पें' ॥ वही, 4.4.9

11. 'कहों तणउ रज्जु कहों तणउ भरहु । जं जाणहु तं महु मिलें वि करहु ॥
सो एक्कें चक्कें वहइ गव्वु । किर वसिकिउ मइँ महिवीढु सव्वु ॥
णउ जाणइ होसइ केम कज्जु । कहों पासिउ णीसावण्णु रज्जु ॥
परियलइ जेण तहों तणउ बप्पु । तं तेहउ कल्लएँ देमि कप्पु ॥ वही, 4.5.2-5

12. आदि पुराण, 34/8, 10
13. वही, 34/12, 13
14. वही, 34/15
15. वही, 34/28
16. वही, 34/40, 41
17. वही, 34/44, 45
18. वही, 34/60
19. वही, 34/125
20. वही, 35/138

21. 'पइँ तिण-सरिसो वि ण गणइ देव ॥
ण करइ केर तुहारी रिउखयकारी णिक्कमउ माणें महाइउ ।
मेइणिखणु समुद्दें वि रण-पिढु मज्झें वि जुज्झ सज्जु थिउ वाइउ ॥
तं णिसुणें वि झत्ति पलित्तु राउ । णं जलणु जाल-माला सहाउ ।
देवाविउ लहु सण्णाह तूरु । पउमचरिउ, 4.5.8-9, 6.1-2

22. अब्भिट्टइं वड्डिय कलयलाइं । भरहेसर-बाहुबली-बलाइं ॥
वाहिय-रह-चोइय-वारणाइं । असवारवाभेल्लिय-पहरणाइं ॥
धुय-धुव्वण-ओत्त-खण्डिय-धुराइं । दारिय-णियम्ब-कप्पिय-उराइं ॥
णिव्वट्टिय भुअ-पाडिय-सिराइं । धुय-छत्त-कबन्ध-पणच्चिराइं ॥ वही, 4.8.1-4

23. पेक्खें वि बलइँ धुलन्तइँ महिहिं पडन्तइँ मन्तिहि थरिय म मच्छहों
किं वहिएण वराऍं भडसंघाएं दिट्ठि-जुज्झु वरि मच्छहों ॥ वही, 4.8.9

24. आदिपुराण, 36/38, 39, 40

25. पहिलउ जुज्झेवउ दिट्ठि जुज्झु । जलजुज्झु पडीवउ मल्लजुज्झु ॥
जो तिहि मि जुज्झइँ जिणइ अज्जु । तहों णिहि तहों रयणइँ तासु रज्जु ॥
पउमचरिउ, 4.9.1-2

26\. णरणाहु विलक्खीहूउ सट्ठु ।।
चक्करयणु परिचिन्तउ उप्परि घत्तिउ चरम-देहु तें वज्जिउ ।
पसरिय-कर-णियरम्बें दिणयर-बिम्बें णाइँ मेरु परिअञ्चिउ । वही, 4.11.8-9

27\. जं मुक्कु चक्कु चक्केसरेण । तं चिन्तिउ बाहुबलीसरेण ।।
किं पहुँ अप्फालमि महिहिँ अज्जु । णं णं धिगत्थु परिहरमि रज्जु ।।
रज्जहों कारणे किज्जइ अजुत्तु । घाएवउ भाएं बप्पु-पुत्तु ।।
किं णाएं साहमि परम-मोक्खु । जहिँ लब्भइ अचलु अणन्तु-सोक्खु ।।
परिचिन्तेँ वि सुइरु मणेण एम । पुणु भणिउ णराहिउ डिम्भु जेम ।।
महु तणिय पिहिमि तहुं भुञ्जें भाय । सोमप्पहु केर करेइ राय ।।
मुणि-सल्लु करेंवि जिणु गुरु भणेवि । थिउ पंचमुट्ठिसिरें लोउ देवि ।।
वही, 4.12.1-7

28\. आदिपुराण, 36/60-68

29\. वही, 36/104

30\. ओलम्बिय-करयलु एक्कु वरिसु । अविओलु अचलुगिरिमेरु सरिसु ।।
वेढ्ढिउ सुट्ठु विसालेंहि वेल्लीजालेंहि अहिविच्छिय वम्मीयहिँ ।
खणु वि ण मुक्कु भडारउ मयणवियारउ णं संसारहों भीयहिँ ।।
पउमचरिउ, 4.12.8-9

31\. ....कइलासें परिट्ठिउ रिसहणाहु ।।
तइलोक्क-पियामहु जगजणेरु । समसरणु वि स-गणस-पाडिहेरु ।।
थोवें हिँ दिवसें हिं भरहेसरो वि । तहो वन्दणहत्तिएं आउ सो वि ।।
........वन्देप्पिणु दसविह-धम्मपालु । पुणु पुच्छिउ तिहुवण-सामिसालु ।।
'बाहुबलि भडारा सुहणिहाणु । कें कज्जें अज्जु ण होइ णाणु' ।। वही, 4.13.1-6

32\. त णिसुणे वि परम-जिणेसरेण । वज्जरिउ दिव्वभासन्तरेण ।।
'अज्ज वि ईसीसि कसाउ तासु । जं खेत्तें तुहारएँ किउ णिवासु ।।
जइ भरहहों जि समप्पिउ तो किं चप्पिउ महँ चलणेहिँ महि-मण्डलु ।
एण कसाएं लइयउ सो पव्वइयउ तेण ण पावइ केवलु' ।। वही, 4.13.7-9

33\. तं वयणु सुणेँवि गउ भरहु तेत्थु । बाहुबलि-भडारउ अचलुजेत्थु ।।
सव्वंगु पडिउ चलणेहिँ तासु । 'तउ तणिय पिहिमि हउँ तुम्ह दासु' ।।
वही, 4.14.1-2

34\. आदिपुराण, 36/185

35\. वही, 36/186 (पूर्वार्द्ध)

36\. वही, 36/186 (उत्तरार्द्ध)

37\. रिसहु वि गउ णिव्वाणहों सासय-थाणहों भरहु वि णिव्वुइ पत्तउ ।
पउमचरिउ, 4.14.9

स्वयम्भूच्छन्द
एक समीक्षात्मक अध्ययन

– डॉ० कस्तूरचन्द 'सुमन'

□

भारतीय साहित्य में अपभ्रंश भाषा से संबंधित जो विपुल साहित्यिक सामग्री उपलब्ध हुई है, उसमें महाकवि स्वयम्भू की रचनाएँ सर्वश्रेष्ठ हैं। रामकाव्य परम्परा में उनकी कृति "पउमचरिउ" एक अनुपम कृति है। उन्होंने न केवल चरित्र-काव्य ही लिखा अपितु एक ऐसा छन्द ग्रन्थ भी लिखा, जिसमें अपभ्रंश और प्राकृत के विभिन्न छन्द सोदाहरण दिये गये हैं।

कवि की उपलब्ध रचनाओं में "स्वयम्भूच्छन्द" छन्दों से संबंधित एक अनूठी कृति है। प्रो. एच. डी. वेलरणकर के हम कृतज्ञ हैं जिन्होंने इस अमूल्य कृति का सम्पादन कर भारतीय साहित्य-निधि को उपकृत किया है।[1]

इस सम्बन्ध में वह पद्य द्रष्टव्य है, जिसमें उन्हें पंचानन कहा गया है। पद्य में कवि के संबंध में कहा गया है कि जो सच्छन्द रूप विकट डाढ़ों से तथा छन्द और अलंकार रूप नखों से दुष्प्रेक्ष्य हैं, व्याकरण रूप जिसकी केसर (अयाल) है आदि।[2] इस उल्लेख से कवि स्वयम्भू छन्दःशास्त्र के ज्ञाता प्रतीत होते हैं। पउमचरिउ प्रशस्ति में उन्हें छन्द-चूड़ामणि कहा गया है।[3] इस प्रकार वे छन्दवेत्ताओं में अपने समय के प्रधान छन्दवेत्ता कहे जा सकते हैं।

प्रस्तुत कृति का अध्ययन करने से ऐसा आभास होता है कि इस कृति का आरम्भिक अंश उपलब्ध नहीं है। इसमें कृतिकार के संबंध में वैसे स्पष्ट उल्लेख उपलब्ध नहीं हैं, जैसे पउमचरिउ में हैं।[4] कृति के उत्तरभाग के अन्तिम अंश में स्वयंभू को कविराज कहा गया है।[5] इस उल्लेख से ऐसा विदित होता है कि यह उपाधि कवि को स्वयम्भूच्छन्द कृति के पूर्व प्राप्त हो चुकी थी।

ग्रन्थ-नाम :– जहाँ तक इस कृति के नाम का संबंध है, वह पूर्व-परम्परानुसार रखा गया ज्ञात होता है। जैसे शाकटायन कृत व्याकरण शाकटायन-व्याकरण, और हेमचन्द्र कृत व्याकरण हेमचन्द्र-व्याकरण कहा जाता है, उसीप्रकार कवि द्वारा रचित व्याकरण स्वयम्भूव्याकरण और उनके द्वारा रचित छन्द:शास्त्र स्वयम्भूच्छन्द कहा गया लगता है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह नाम मूल पाण्डुलिपि में नहीं रहा होगा। प्रकाशन के समय इसे यह नाम दिया गया लगता है क्योंकि जिस कवि ने आत्मश्लाघा से बचने के लिए कृतियों में आत्मपरिचय भी न दिया हो वह कवि निज नाम पर रचना करेगा, यह तर्क-संगत प्रतीत नहीं होता।

कृति-परिचय :– प्रस्तुत कृति पूर्व और उत्तर दो भागों में विभाजित है। उत्तरभाग, पूर्वभाग से पूर्व प्रकाशित कराया गया है। उत्तर भाग में आठ अध्याय हैं – उक्तादिविधि, अर्धसम, प्राकृतसार, उत्साहादि, षट्पदजाति, चतुष्पदी, द्विपदी, शेष-चतुष्पदियाँ और उत्थक्कादि।

विद्वान् सम्पादक प्रो० वेलणकर ने अपनी प्रस्तावना के अन्तर्गत प्रस्तुत कृति के आरम्भिक तीन अध्यायों मे प्राकृत छन्दों तथा शेष पांच अध्यायों में अपभ्रंश छन्दों का होना बताया है।[6] श्री परमानन्द शास्त्री[7] तथा डॉ० नेमीचन्द्र शास्त्री[8] ने भी इस संबंध में ऐसा ही मंतव्य प्रकट किया है। उत्तरभाग के तृतीय अध्याय का नाम प्राकृतसार होने से यद्यपि उक्त विचार तर्कसंगत प्रतीत होते हैं, तथापि बहुसंख्यक उदाहरण प्राकृत भाषा के होने पर भी इस कृति के प्रथम अध्याय में ही[9] कवि की प्रसिद्ध कृति पउमचरिउ के उदाहरणस्वरूप दो पद्यों[10] का समावेश देखकर उक्त कथन उचित प्रतीत नहीं होता। ऐसे उदाहरण और भी संभावित हैं।

कवि स्वयम्भू को अपभ्रंश का महाकवि कहा गया है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि स्वयम्भू प्राकृत से अपरिचित थे। उन्होंने अपने इस ग्रन्थ में प्राकृत के अनेक छन्दों का सोदाहरण परिचय प्रस्तुत किया है।[11] प्राकृत और अपभ्रंश से संबंधित लगभग साठ कवियों के पद्य इस कृति में दिये गये हैं।[12] चूंकि भाषा-ज्ञान के बिना ऐसे सुन्दर भावों से युक्त पद्यों का चयन संभव नहीं होता अत: कहा जा सकता है कि कवि अपभ्रंश के समान प्राकृत के भी मर्मज्ञ विद्वान् थे।

इस कृति मे राम-कथा से संबंधित सोलह पद्य आये हैं। सोलह पद्यों में[13] अधिकतम पद्य कवि के स्वोपज्ञ हैं, और वे उनकी कृति पउमचरिउ से ही सम्बद्ध हैं। प्रस्तुत कृति के उत्तर भाग के प्रथम अध्याय में 74.1 और 74.2 संख्यक पद्य, पउमचरिउ, संधि 73.3, 5–8, और संधि 72.15, 5–6 से अवतरित हैं। स्वयम्भूच्छन्द के छठे अध्याय में विभिन्न छन्दों के उदाहरणों के रूप मे आये हुए पद्य 33.1, 54.1, 56.1 पउमचरिउ की संधि 65 और 77 मे द्रष्टव्य हैं।

काव्य स्वरूप :– अपभ्रंश काव्यों में संधि का व्यवहार उसी प्रकार हुआ है, जैसा कि संस्कृत काव्यों में सर्ग का। प्रत्येक संधि में अनेक कड़वक और प्रत्येक कड़वक में यमक होते हैं। कवि स्वयम्भू ने इस संबंध में अपने विचार व्यक्त करते हुए स्वयम्भूच्छन्द में लिखा है कि यमक दो पदों से निर्मित होता है तथा आठ यमक समूह से कड़वक की रचना की जाती

है। यदि पद पद्धड़ियाबद्ध हो तो उसमें सोलह मात्राएं होती हैं।[14] किन्तु कवि की कृति पउमचरिउ को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि स्वयं कवि ने ही अपने द्वारा निर्दिष्ट काव्यगत मान्यताओं का पालन नहीं किया है। पउमचरिउ में संधि का व्यवहार तो हुआ है किन्तु संधियों में व्यवहृत कड़वकों में यमक संख्या न्यूनाधिक दिखाई देती है। ऐसे बहुसंख्यक उदाहरण हैं, जिनमें निर्धारित संख्या से अधिक यमक व्यवहृत हुये हैं। कम-संख्यक यमक युक्त कड़वक भी हैं किन्तु वे न के बराबर हैं।[15] कड़वक के अन्त में घत्ता या ध्रुवक अवश्य होता है।

घत्ता छन्द तीन प्रकार का बताया गया है। हर प्रकार में प्रथम और तृतीय पाद में नव मात्राएं तथा द्वितीय और चतुर्थ पाद में चौदह मात्राएं होती हैं। इसे अर्धसम चतुष्पदी कहा गया है।[16] घत्ता का द्वितीय रूप सर्वसम चतुष्पदी होता है। इसके प्रत्येक चरण में 12-12 मात्राएं होती हैं।[17] तीसरे रूप को यद्यपि सर्वसम चतुष्पदी ही कहा गया है किन्तु इसके प्रत्येक पाद में सोलह मात्राएं तथा प्रथम एवं द्वितीय पाद के आदि में गुरु वर्ण होता है।[18] इसे बासठ मात्राओं का छन्द भी कहा गया है[19] जिसके उदाहरण पउमचरिउ में द्रष्टव्य हैं।[20]

कविराज विश्वनाथ का यह कथन कि अपभ्रंश काव्यों में सर्गों की जगह कुड़वक या कड़वक होते हैं,[21] स्वयम्भूच्छन्द तथा पउमचरिउ के साक्ष्य में निराधार प्रतीत होता है।

रास परम्परा :– स्वयम्भूच्छन्द से यह स्पष्ट है कि स्वयम्भू के समय रास या रासो काव्य लिखे जाने लगे थे और ऐसे काव्य पर्याप्त प्रचार में आ गये थे। कवि ने अपने ग्रन्थ में रासाबन्ध और रास नामक दो पृथक् पृथक् छन्द बताये हैं। रासाबन्ध छन्द के सम्बन्ध मे उन्होंने लिखा है कि घत्ता, छड्डणिया, पद्धड़िया तथा ऐसे ही अन्य सुन्दर छन्दों से निबद्ध रचना रासाबन्ध है। यह जन मन अभिराम होता है।[22] इसमें सभी जाति के छन्द मात्रिक या वर्णिक प्रयुक्त हो सकते हैं। यह गोष्ठियों में रसायन स्वरूप बताया गया है।[23] इस उल्लेख के आधार पर रासाबन्ध छन्द प्रतीत नही होता अपितु रास छन्द में निबद्ध काव्य प्रतीत होता है।

रास के प्रत्येक चरण में इक्कीस मात्राएं तथा चौदह मात्राओं पर यति होती है, पद के अन्त में तीन ह्रस्व वर्ण होते हैं। विभिन्न छन्दों में निबद्ध ऐसा पदसमूह रास कहा गया है।[24] किसी व्यक्ति विशेष या देवी देवता की आराधना और किसी साधु या सेठ की जीवन-गाथा को अंकित करने में अथवा किसी विरहिणी नारी के संदेश को उसके विरही पति तक पहुंचाने के लिए अथवा आत्म-सम्बोधन के लिए रासा साहित्य की सृष्टि की गयी थी। जैन कवियों ने ऐसी रचनाएँ कर साहित्य-जगत् में एक नयी विधा को जन्म दिया था। उद्योतनसूरि का चर्चरीरास, जो कुवलयमाला के प्रारम्भ में निबद्ध है, इसका एक ज्वलन्त उदाहरण है। कवि सिद्धर्षि की वि. सं. 962 में लिखित 'रिपुदारणरास' नामक कृति भी इस संबंध में द्रष्टव्य है। जम्बूसामिचरिउ में भी "अम्बादेवी चर्चरी रास" का उल्लेख मिलता है।[25] कालान्तर में जैनेतर कवियों द्वारा निर्मित पृथ्वीराज रासो, बीसलदेवरासो, खुमानरासो आदि में ऐसा प्रतीत होता है कि मूलतः रासा साहित्य जैन कवियों की देन है।

जिन नाम माहात्म्य :– जिन भक्त कवि ने पद्धड़िया छन्द के उदाहरणों में ऐसे पद्य लिखे हैं जिनसे न केवल कवि की जिन धर्म के प्रति भक्ति प्रकट होती है अपितु जिन नाम के स्मरण की महिमा का भी पता चलता है।

एक पद्य में लिखा गया है कि जिन नाम के स्मरण से मद गल जाता है, अभिमान चूर-चूर हो जाता है, सिंह भी वश में हो जाता है, सर्प काटता नहीं, जाज्वल्यमान अग्नि भी शान्त हो जाती है, समुद्र भी स्थान दे देता है, अटवी में जंगली व्याघ्रादि प्राणी भी नहीं सताते, सांसारिक सैंकड़ों बंधन टूट जाते हैं, और क्षण भर में जीव मुक्त हो जाता है।[26] इस प्रकार कहा जा सकता है कि जिन नाम के स्मरण से समस्त भौतिक ताप-आपदाएँ विनष्ट होती हैं।

कवि ने एक ओर जहाँ भौतिक ताप विनाशन हेतु जिन नाम की समर्थता प्रकट की है, वहाँ दूसरी ओर दैविक ताप भी जिन नाम से विनष्ट होते दिखाये हैं। उन्होंने लिखा है कि जिन नाम के प्रभाव से कोई भी ग्रह पीड़ा नहीं पहुँचा पाते, खोटी बुद्धिवाले पिशाचादि भी दूर हो जाते हैं, दुःखदायी अवस्थाएँ क्षीण हो जाती हैं और प्रतिदिन पुण्य का बन्ध होता है।[27]

मोह के कारण मनुष्य दुःखी है। वह मोहजाल भी जिन नाम से कट जाता है और मोहजाल के छिन्न होने पर कर्मों का दलन हो जाता है और कर्मदलन से जीव मुक्त होकर सदा सुखी हो जाता है।[28] इस प्रकार जिन नाम से त्रिविध दैविक, दैहिक और भौतिक ताप दूर होते दिखाई देते हैं।

जिन नाम माहात्म्य के संदर्भ में छड्डणिका छन्द का उदाहरण भी द्रष्टव्य है जिसमें कहा गया है कि जिन नाम पवित्र नाम है, उसके श्रवण से अशेष पापों का क्षय हो जाता है। जो मन से जिन नाम लेता है, वह सुख पाता है। जिन नाम से दीनता नहीं रहती।[29]

जिन-स्वरूप :– जिस जिन के नाम का इतना माहात्म्य है, वह जिन कैसा है ? उसे कैसे पहिचाना जावे ? आदि प्रश्नों के समाधान हेतु उन्होंने अपनी कृति मे लिखा है कि जो देव न रुष्ट होते हैं और न द्वेष करते हैं, जो दया भी नहीं करते वे जिन हैं, जिनवर हैं। उन्होंने इस पद्य के माध्यम से पर-कल्याण हेतु अपनी भावना व्यक्त करते हुए कहा है कि हे विवेकी भव्य जीवो ! क्षण मात्र के लिए भी जिनवर का हृदय से विस्मरण मत करो।[30]

कर्म-व्यवस्था :– कर्म-व्यवस्था जैनधर्म की अनूठी देन है। कवि ने मत्तमधुकरी छन्द के उदाहरण द्वारा मन्दबुद्धियों को यह बताया है कि कामार्तों के लिए रात्रि जब सौख्य-प्रदायिनी होती है तो फिर बेचारे चकवाक का विछोह क्यों हो जाता है ? इसका समाधान करते हुए लिखा गया है कि यह तो पूर्वकृत कर्मों का परिपाक है। न कोई किसी को सुख दे सकता है और न छीन ही सकता है।[31]

कवि ने इस सूत्र रूप में निबद्ध पंक्ति में गागर में सागर भर दिया है। जीव अपना कल्याण स्वयं कर सकता है। सुख-दुःख में कोई किसी का हेतु नहीं है, ऐसा कहकर कवि ने जीवों को सत्कर्मों की ओर प्रेरित किया है।

पुण्य :– संसार में सुखोत्पादक वस्तुएँ पुण्य से ही उपलब्ध होती हैं। इस सम्बन्ध में शार्दूल ललित छन्द का उदाहरण द्रष्टव्य है जिसमें कहा गया है कि बाल चन्द्र के समान जिनकी बक्र भौंहें हैं, जिनके दोनों नेत्र विशाल हैं, चरण अशोक पल्लव के समान रक्ताभ हैं, अधरोष्ठ बिम्बफल के समान हैं, मुख चन्द्र के समान लोकानन्दकारी है, ऐसी उन्नतस्तनी तरुणियाँ बिना पुण्य के प्राप्त नहीं होतीं।[32]

नीतियाँ :– लोक में लोग किस प्रकार रहें, जिससे वे आपदाओं से बच सकें और जीवन निरापद बना रहे, इस हेतु कृति में ऐसे कई उदाहरण दिये गये हैं। केसर छन्द के उदाहरण में समझाया गया है कि संसार में मनुष्य को चाहिए कि वह अत्यन्त असह्य दुष्ट स्वामी के मुख को न देखे, वज्र के समान कठोर दुष्ट पुरुषों के वचन न सुने और कंजूस लोगों के समक्ष 'मुझे दे' ऐसे दीनता भरे वचन न बोले। ऐसा न करना पड़े इस अभिप्राय से यह विचार कर ले कि युद्ध में जिसका सिर कट गया है, केवल धड़ ही जिसका शेष है, ऐसा मैं हूँ।[33]

शिखरिणी छन्द के उदाहरण में यह कहा गया है कि सम्पूर्ण गुणों से युक्त विद्वानों के बीच बन्धन में भी रहना पड़े तो अच्छा है, दीर्घकाल तक गिरि-वास भी करना पड़े तो भी अच्छा है, और यदि जहरीले विषधर के साथ भी रहना पड़े तो भी अच्छा है, किन्तु ऐसे राज्य में रहना अच्छा नहीं जहाँ दुष्ट चुगलखोर रहते हों।[34]

मन :– भवसागर में फंसा हुआ जीव बहुदु:खी है। दु:ख का कारण है उसका स्वयं का विषयासक्त मन। क्रीडनक छन्द के उदाहरण में विषयासक्त मन को मदोन्मत्त गज कहा है। जैसे हाथी, कामोन्मत्त होकर रतिप्रसंगवश हथिनी की प्राप्ति के कारण कष्टदायी गर्त में जा गिरता है, ठीक वैसे ही यह विषयासक्त मन मोह रूपी मदिरा से उन्मत्त होकर दुर्गति रूप गर्त में जा गिरता है।[35]

छन्द परिचय :– स्वयम्भूच्छन्द के अध्ययन से जैन दर्शन सम्बन्धी सिद्धान्तों की जानकारी का उपलब्ध होना इस तथ्य का प्रतीक है कि कवि स्वयम्भू न केवल साहित्यिक विधाओं के मर्मज्ञ वेत्ता थे, अपितु स्व-पर-कल्याणात्मक भावनाओं के आगार भी थे। उन्होंने मन की स्थिति का चिन्तन किया था, कर्म स्वभाव से वे परिचित थे। जिनेन्द्र भगवान् को ही वे सच्चा देव मानते थे। इनकी आस्था थी कि जिन नाम ही त्रिविध तापहारी है। ग्रंथ में ऐसी उक्तियों का समावेश उनकी प्रतिभा एवं पर-कल्याण भावना का परिचायक है।

प्रस्तुत कृति में कवि ने 313 मात्रिक तथा 155 वर्णिक छन्दों से पाठकों को परिचित कराया है।[36] पउमचरिउ कृति में कवि ऐसे नवीन छन्दों का व्यवहार करते हुए दिखाई देते हैं, जिनका कि स्वयम्भूच्छन्द में उन्होंने उल्लेख नहीं किया है। उदाहरण के लिए तोमर (पउमचरिउ संधि 59.2), मत्तमायंग (59.3; 60.4), रयडा (59.4), परियन्दिय (59.5), णाराउ (59.7), भुजंगप्रयात (59.10; 71.11), मागध प्रत्यधिक (60.1), हेलादुवई (59.1; 59.2), मयणवयारो (60.5), दुवई (संधि 13, 40, 51, 75 पूर्ण तथा 70 का 1.12), मत्ता (74.1), मदनावर (59.2, 9) आदि।

तोटक (59.6), दोहक (59.8), पद्धड़िया (59.9; 60.2), दोधक (71.11), नाराच (71.11), ध्रुवक (59 आरम्भ) आदि ऐसे छन्द हैं जिनका पउमचरिउ में तो व्यवहार हुआ ही है, स्वयम्भूच्छन्द में भी ये छन्द सोदाहरण उपलब्ध हैं।

प्रस्तुत उल्लेखों के परिप्रेक्ष्य में ऐसा प्रतीत होता है कि स्वयम्भू छन्दःशास्त्र के अपने समय के सम्भवतः सर्वाधिक ज्ञानी, निष्णात विद्वान् थे। पउमचरिउ में व्यवहृत छन्द इस तथ्य को प्रमाणित करते हैं। यह कृति अनुसंधित्सुओं द्वारा पठनीय है। विस्तार भय से अन्य अनेक तथ्य अछूते रह गये हैं। आशा है विद्वान् पाठक उन्हें प्रकाश में लाने का कष्ट करेंगे।

---

1. संचालक, राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर (राज.) प्रकाशन, विक्रमाब्द 2018
2. सच्छन्द-वियड-दाढ़ो, छन्दो (वा) लंकार-णहर दुप्पिच्छो
   वायरण-केसरड्ढो सयंभु पंचाणणो जयउ ।।
   जैन ग्रन्थ प्रशस्ति संग्रह, भाग-2, पं० परमानन्द शास्त्री, 1963 प्रकाशन, प्रस्तावना पृ० 37, टिप्पणी 2
3. जइ ण हुउ छन्दचूडामणिस्स तिहुअण-सयम्भू लहुतणओ
   पउमचरिउ, भाग 5, प्रशस्ति गाथा 10
4. पउमचरिउ, प्रथम भाग – आरंभिक अंश, पंचम भाग – प्रशस्ति
5. कइराअरइअं संभुणाणं छन्दलक्खणं समत्तं – स्वयम्भूच्छन्द, पृ० 102
6. वही, प्रस्तावना पृ० 10
7. जैन ग्रन्थ प्रशस्तिसंग्रह, भाग 2, प्रस्तावना पृ० 36
8. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग 4, पृ० 100
9. स्वयम्भूच्छन्द, भाग 1.74.1 और 1.74.2
10. पउमचरिउ, भाग 4, संधि 73.3.5–8, संधि 72.15.5–6
11. स्वयम्भूच्छन्द, उत्तर भाग – आदि से तृतीय अध्याय तक
12. एनसाइक्लोपेडिया आफ़ इण्डियन लिटरेचर पृ० 429
13. स्वयम्भूच्छन्द, प्रस्तावना पृ० 17
14. पद्धडिआ पुणु जे इ करेंति ते सोलह मत्तउ पउ धरेंति
    बिहिं पर्याहि जमउ ते णिम्मअति कडवअ अट्ठहिं जमर्याहि रयन्ति
    स्वयम्भूच्छन्द, 8.15 पृ० 96
15. पउमचरिउ, संधि 57 कडवक 2–5 और 7
16. एक्क मत्तउ पढमे बीए चउवूवह मत्तओ।
    तइए इमेच्चिअ चोत्थएवि होइ मत्तओ ।।
    स्वयम्भूच्छन्द, 8.12, पृ० 95
17. छव्वाण होन्ति पथाणं तिणव चाअओ हुवंति।
    वत्ता लक्खण एरिसउ गोवाला विलवंति ।।
    वही, 8.13, पृ० 96

18. धा महबंसक अयारि ठवेप्पिणु आइमे बोअए (एक्क) करेप्पिणु।
तइअ चउत्थए बे अक्खा पुणु तं सिविह इह घत्तमहो सुणु।।
वही, 8.14, पृ० 96
19. पढ़मं बह बीसामो बीए मत्ताइं अट्ठाहं।
तीए तेरह बिरई धत्ता मत्ताइं बासट्ठि।।
डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिंदी साहित्य का आदिकाल, पृ० 95
20. पउमचरिउ, संधि 57.1.9; 2.11
21. अपभ्रंशनिबद्धेऽस्मिन् सर्गाः कुडवकाभिधाः।
तथा भ्रंशयोग्यानि छन्दांसि बिविधान्यपि।।
साहित्यदर्पण, 6.327
22. घत्ताछड्डणि आहिं पद्धड़िआ (हिं) सु अण्ण कएहिं।
रासाबन्धो कव्वे जण-मण-अहिराम ओ होइ।।
स्वयम्भूच्छन्द, 8.24 पृ० 100
23. सअलाओ जाईओ पत्थारवसेण एत्थ बज्झंति।
रासाबंध (ओ) णूणं रसायणं चेअ गोट्ठीसु।।
वही, 8.26, पृ० 101
24. एक्कवीसमत्ताणिहणउ उद्दामगिरु
चउदसाइ बिस्साम होभ (इ) गणबिरइथिरु।
रासाबंधु समिद्ध एउ अहिरामअरु
लहुअतिअलअवसाणबिरइ अ (इ) महुर अरु।।
वही, 8.25, पृ० 100
25. पं० परमानन्द शास्त्री, जैन ग्रन्थ प्रशस्तिसंग्रह, भाग 2, प्रस्तावना पृ० 32–33
26. जिणणामे मअगल मुअइ अप्पु केसरि वस हो ण डसइ सप्पु।
जिणणामे ण डहइ धअधअंत हुअवह जालासअपज्जलंत।।
जिणणामे जलणिहि देइ थाहु आरण्णे वणु ण वधइ वाहु।
जिणणामे भवसअसंकलाइं टुट्टंति होंति खण मोक्कलाइ।।
वही, 8.20.6, 8.20.7, पृ० 98
27. जिणणामे पीडइ गहु ण कोवि दुम्मइ पिसाउ ओसरइ सोवि।
जिणणामे दुग्गअकहि जंति अणुदिण वरपुण्णइं उब्भवंति।।
वही, 8.20.8, पृ० 99
28. जिणणामे छिंदेवि मोहजालु उप्पज्जइ देवलु सामिसालु।
जिणणामे कम्मइं णिद्दलेवि मोक्खग्गे पइसिअ सुह लहेवि।।
वही, 8.20.9, पृ० 99
29. जिणणाम पवित्तें विव सुब्वंतें पाउ असेसु वि छिज्जइ।
जं जं मणें भावइ तं सुह पावइ। बीणु ण कासु वि किज्जइ।।
वही, 8.20.10, पृ० 99

30. जेहवि ण कसह जइ वि ण कूसहिँ । जइवि ण वम्म करहिँ ।
तोवि मराला जिणवर हिमए । खण वि ण वीसरहिँ ।।
वही, 8.7.1, पृ० 94

31. रत्ति सोक्खइँ देइ मिहुणाण । जइ एम तो बम्पुडा ।
चक्कवाउ किमु तहिँ विओइउ ।।
पुव्वकिमउ परिणमइ । को वि कस्स देमउ ण लेमउ ।।
वही, 4.4, पृ० 55

32. बाला बालमियंकवंककमुमम्रा दीहच्छिजुमला
रत्तासोमणवल्लपल्लवपमा बिंबाहरवला ।
लोभाणंविरकंवकंवमुहिमा मालूरथणिमा
सव्वाणं चिम्र संघडंति ण विणा पुण्णेहिं धणिमा ।।
वही, 1.39.1, पृ० 17

33. णो वट्टव्वं परमणसहिमं दुट्ठक्कुराणं मुहं
णो सोअव्वं खलजणवअणं वज्जासणीसंणिहं ।
णो वोत्तव्वं किवणजणवदे देहित्ति दीणक्खरं
साहिप्पाअं णडइव समरे उद्धं कबंधं ठिअं ।।
वही, 1.44.1, पृ० 19

34. वरं लद्धो बंधो सअलगुणमंते बुहगणे
वरं दीहं कालं गिरिगहणमज्झे णिवसिअं ।
वरं दुट्ठेणासीविसविस हरेणावि रमिअं
ण संजाअं रज्जं पिसुणपरिवारेण सहिअं ।।
वही, 1.27.1, पृ० 12

35. मणगअवरओ । मोहमएण मत्तओ ।।
रइकरिणि वसो । दुग्गइवारि पत्तओ ।।
वही, 6.29.1, पृ० 68

36. वही, पृ० 140 से 151 के अन्तर्गत प्रकाशित सूची ।

स्वयम्भू-साहित्य की प्रशस्तियों में उल्लिखित कुछ प्रमुख साहित्यकार

– डॉ० राजाराम जैन

☐

अद्यावधि उपलब्ध अपभ्रंश-वाङ्मय में स्वयम्भू साहित्य को आद्य शास्त्रीय-साहित्य के रूप में प्रतिष्ठा मिली है। उसके अधिष्ठाता एवं प्रणेता महाकवि स्वयम्भू युगद्रष्टा, युगचेता एवं राष्ट्रकवि के रूप में प्रतिष्ठित हैं। एक ओर उन्होंने पूर्व-साहित्यिक परम्पराओं का सिंहावलोकन – परिमार्जन कर जन-भाषा में लोक-चेतना का शंखनाद किया है तो दूसरी ओर उन्होंने एवं उनके प्रतिभा-सम्पन्न सुपुत्र त्रिभुवनस्वयम्भू ने करालकाल के दुष्प्रभाव से धूमिल तथा कुछ अज्ञात विषम परिस्थितियों की चपेट में विस्मृत हुए विविध पूर्ववर्ती साहित्य एवं साहित्यकारों को अपनी ग्रन्थ-प्रशस्तियों में उल्लिखित कर उन्हें जीवित बनाये रखने का सर्वप्रथम प्रयत्न भी किया है। इस प्रकार उन जैसे कालजयी इतिहास पुरुषों ने साहित्यिक इतिहास की बिखरी हुई अनेक कड़ियों को जोड़ने में अभूतपूर्व संरचनात्मक कार्य तो किया ही, विवरणात्मक प्रशस्तिलेखन की परम्परा का सूत्रपात कर परवर्ती कवियों के लिए भी मार्ग-निर्देशन किया।

महाकवि स्वयम्भू के अभी तक 6 ग्रन्थ ज्ञात हैं : 1. पउमचरिउ 2. स्वयंभूच्छन्द 3. रिट्ठणेमिचरिउ 4. सुव्वयचरिउ 5. सिरिपंचमीचरिउ एवं 6. अपभ्रंश व्याकरण ग्रन्थ। इनमें से प्रथम दो ग्रन्थ तो प्रकाशित हो चुके हैं। तीसरे ग्रन्थ का सम्पादन कार्य चल रहा है। बाकी तीन ग्रन्थ अनुपलब्ध हैं। रिट्ठणेमिचरिउ की अन्त्य प्रशस्ति में पूर्ववर्ती श्रमण एवं श्रमणेतर लगभग 81 कवियों के उल्लेख मिलते हैं जो संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश के क्षेत्र में स्वयम्भू के पूर्व ही ख्याति-प्राप्त हो चुके थे। बहुत सम्भव है, स्वयम्भू को उनके साहित्य के अध्ययन का सुअवसर भी मिला हो और उन्हें श्रेण्य कोटि के साहित्य-कार मानकर ही अपनी प्रशस्तियों में उन्हें श्रद्धापूर्वक स्मरण किया हो। यहाँ पर सभी

कवियों के विषय में चर्चा कर पाना तो सम्भव नहीं, किन्तु अपभ्रंश, प्राकृत एवं संस्कृत के चउमुह (अपरनाम चउराणण), दोण, ईसाण, गोइंद, जीवएव, अणुराय एवं सुग्गीव के कृतित्व एवं व्यक्तित्व पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया जा रहा है –

चउमुह

महाकवि चउमुह (चतुर्मुख) का सर्वप्रथम उल्लेख स्वयम्भू ने अपने स्वयम्भूच्छन्द नामक ग्रंथ में किया है तथा अपने छन्द-लक्षणों में उदाहरण देने हेतु उनके कुछ पद्यों को उद्धृत किया है। इन पद्यों का वर्ण्य-विषय देखने से विदित होता है कि उन्होंने महाभारत-कथा-सम्बन्धी कोई ग्रंथ लिखा था।

त्रिभुवन स्वयम्भू ने उनका उल्लेख चउराणण के नाम से किया है, जो चउमुह का ही नामान्तर है। त्रिभुवन स्वयम्भू ने उनका परिचय देते हुए लिखा है –

1. चउमुह ने दुवई एवं ध्रुवकों से जड़ा हुआ पद्धड़िया छन्द अर्पित किया।[1] त्रिभुवन स्वयम्भू के इस उल्लेख से हमें पद्धड़िया छन्द और उससे विकसित कडवक छन्द का इतिहास तो प्राप्त हो ही जाता है, उससे यह भी ज्ञात होता है कि पद्धड़िया छन्द अथवा कडवक छन्द प्रारम्भ से ही अपभ्रंश के प्रबन्ध-काव्यों का प्रमुख छन्द रहा है। इसकी पुष्टि अपभ्रंश के निजी छन्द "दोहा" के प्रयोग से होती है, क्योंकि दोहा छन्द का व्यवहार मुक्तक काव्य के क्षेत्र में होता था। जिस प्रकार संस्कृत का अनुष्टुप् छन्द और प्राकृत का गाथा छन्द उनके निजी छन्द माने जाते हैं, उसी प्रकार दोहा छन्द अपभ्रंश का निजी छन्द रहा है। चउराणण (चउमुह) के छन्द विषयक उल्लेख से प्रबन्ध के लिए व्यवहृत होने वाले पद्धड़िया की सूचना विशेष उपयोगी है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि चउमुह की रचनाएँ प्रबन्धात्मक थीं।

2. चउमुह ने महाभारत की गोग्रहणकथा को इतने सरस रूप में लिखा था कि उसका अन्यत्र उदाहरण दुर्लभ है।[2] त्रिभुवन स्वयम्भू के इस कथन से तथा स्वयम्भू द्वारा उद्धृत चउमुह के महाभारत सम्बन्धी पद्यों से यह निश्चय हो जाता है कि चउमुह ने महाभारत-कथा-सम्बन्धी कोई ग्रंथ लिखा था।

"स्वयम्भूच्छन्द" में चउमुह कृत कुछ ऐसे भी पद्य उद्धृत हैं, जिनका वर्ण्य विषय रामकथा[3] से सम्बन्ध रखता है। कुछ पद्य ऐसे भी हैं, जो आचार एवं सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं। इससे प्रतीत होता है कि चउमुह ने रामायण एवं आचार-सिद्धान्त सम्बन्धी ग्रंथों की भी रचना की थी। दुर्भाग्य से ये ग्रंथ उपलब्ध नहीं हैं किन्तु उनके स्वयम्भूच्छन्द नामक ग्रंथ में 24 पद्य उपलब्ध हैं, जिनमें महाभारत के 11, रामायण के 12 पद्य प्रतीत होते हैं और आचार-सिद्धान्त सम्बन्धी पंचमीचरिउ का 1पद्य।[4]

द्रोण

द्रोण कवि का सर्वप्रथम उल्लेख त्रिभुवन स्वयम्भू ने अपने रिट्ठणेमिचरिउ (अप्रकाशित) की अन्त्य प्रशस्ति में किया है। इसके बाद महाकवि पुष्पदन्त[5], धवल[6], लक्ष्मण[7], धनपाल[8] एवं रइधू[9] ने भी बड़े ही आदरपूर्वक उनका स्मरण किया है। इन उल्लेखों से द्रोण की लोकप्रियता एवं कवित्वशक्ति का तो परिचय मिल ही जाता है, स्वयंभू

के पूर्ववर्ती होने की भी जानकारी मिल जाती है, किन्तु उनकी रचनाओं की जानकारी नहीं मिलती।

महाकवि राजशेखर (10वीं सदी) ने द्रोण का व्यक्तिगत परिचय देते हुए उन्हें कुलाल जाति में उत्पन्न बताया है तथा उनकी प्रतिभा को व्यास ऋषि की प्रतिभा से स्पर्धा करनेवाली बताया है। यथा –

सरस्वतीपवित्राणां जातिस्तत्र न कारणम्।
व्यास-स्पर्धी कुलालोऽभूद्यद्द्रोणो भारते कविः ।। (शार्ङ्गधरपद्धति)

अर्थात् सरस्वती से पवित्र पुरुषों के लिए जात-पांत का कोई महत्त्व नहीं। कवि द्रोण जाति से कुलाल था, फिर भी विद्या-बुद्धि में वह व्यास ऋषि का स्पर्धी था। राजशेखर के इस कथन से तथा अपभ्रंश कवियों द्वारा किए गए नामोल्लेख से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं –

1. द्रोण भाषा कवि अर्थात् अपभ्रंश कवि था।

2. व्यासस्पर्धी कथन से प्रतिभासित होता है कि उसने अपभ्रंश में महाभारत कथा सम्बन्धी कोई ऐसी विशाल कृति लिखी थी, जो बड़ी लोकप्रिय थी और जो परवर्ती कवियों के लिए एक आदर्श ग्रंथ बना रहा।

ईशान

ईशान कवि का उल्लेख स्वयम्भू, त्रिभुवन स्वयम्भू, नयनन्दी, पुष्पदन्त, धवल एवं रइधू ने किया है। इन अपभ्रंश कवियों के स्मरण की प्रक्रिया से ऐसा प्रतीत होता है कि ईशान कवि किसी प्रबन्धकाव्य का निर्माता रहा होगा।

प्राकृत एवं संस्कृत के कवियों ने भी ईशान कवि का स्मरण किया है। प्राकृत गाथा-सप्तशती नामक संग्रह ग्रन्थ में उनके कुछ पद्य भी उपलब्ध होते हैं, जिनसे उनकी प्रौढ़ प्रतिभा का परिचय मिल जाता है। उदाहरणार्थ गाथासप्तशती के एक उद्धरण को, जिसमें स्वयं नायिका के आदेश से एक दासी ने नायक को दूसरी नायिका से मिलाने का प्रयास किया है, यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है –

सो तुज्झ कर सुंदरि तह झीणो सुमहिलो हलिअउत्तो।
जह से मच्छरिणीए वि दोच्चं जाआए पडिवण्णं ।।

अर्थात् हे सुन्दरि, अपनी रूपवती भार्या से युक्त रहते हुए भी हालिकपुत्र तुम्हारे सौंदर्य से आकृष्ट होकर तुम्हारे लिए इतना क्षीण हो गया है कि उससे ईर्ष्या करनेवाली उसकी पत्नी ने ही उसके जीवन की आशंका से उसका दौत्यकर्म सम्पन्न कराया है।

– गाहा 1.84

एक अन्य गाथा में किसी नवीन नायिका में आसक्त स्वामी के प्रति उसके प्रणय से वंचित उसकी पूर्व प्रणयिनी, उसके प्रश्न के उत्तर में कह रही है –

उज्झसि पिआइ समअं तह विहुरे भणसि कीस किसिअंति।
उवरि भरेण अ अण्णुअ मुअइ बइल्लो वि अंगाइं ।।

अर्थात् तुम अपनी प्रेमिका के साथ मेरे वक्ष:स्थल पर ढोये जा रहे हो, फिर भी मेरी कृशता का कारण पूछ रहे हो ? हे अनभिज्ञ, ऊपर रखे गए भार के बोझ से साँड भी क्षीण हो जाता है और उसके भी अंग प्रत्यंग दुर्बल हो जाते हैं ।

— गाहा 3.75

संस्कृत के महाकवि बाणभट्ट ने ईशान कवि का अपने मित्र के रूप में उल्लेख कर उसे "भाषा-कवि" कहा है, किन्तु उसने भी ईशान की किसी रचना का उल्लेख नहीं किया। बाणभट्ट के भाषा-कवि का अर्थ अपभ्रंश-कवि से ही होना चाहिए क्योंकि उसने "प्राकृतकृत-कुलपुत्रो वायु-विकार." कहकर प्राकृत कवि के अस्तित्व की सूचना पृथक्रूपेण दी है ।

ईशान कवि सम्बन्धी उक्त उल्लेखों से निम्न तथ्य सम्मुख आते हैं –

1. ईशान कवि भाषा-कवि था । अपभ्रंश का कवि तो वह था ही किन्तु प्राकृत भाषा पर भी उसका असाधारण अधिकार था ।

2. वह महाकवि बाणभट्ट का समकालीन था । गाथासप्तशती मे ईशान के पद्यो को बाणभट्ट के काल के आसपास ही कभी संकलित किया गया होगा ।

3. ईशान कवि का नाम जैन मान्यतानुसार दूसरे स्वर्ग के ईशान देव के नाम पर होने के कारण उसके जैन कवि होने की सम्भावना है ।

4. अपभ्रंश कवियों के उल्लेखों से अनुमान होता है कि उसने कुछ अपभ्रंश भाषात्मक जैन रचनाएँ की होंगी जो काल के दुष्प्रभाव से नष्ट हो गईं ।

5. गाहासत्तसइ मे उद्धृत गाथाओ को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि उसने प्राकृत में कोई लक्षण-ग्रन्थ भी लिखा होगा ।

गोइंद

गोइंद (गोविन्द) कवि का उल्लेख केवल महाकवि स्वयम्भू ने किया है । स्वयम्भू ने उनके जिन अपभ्रंश पद्यों को उद्धृत किया है उनसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि वह अलंकृत रचना करने में प्रवीण था । उसने अपने काव्य में एक स्थल पर कल्पना की है कि कमल और कुमुद दोनो एक ही स्थान पर उत्पन्न होते हैं किन्तु कुमुद का विकास चन्द्रोदय से होता है और कमल का विकास सूर्योदय से । जो जिसके निकट रहता है, वह उसके स्नेह को प्राप्त करता ही है । यथा –

कमल कुमुअह एक्क उप्पत्ति ससि तो वि कुमुआरह ।
देइ सोक्ख कमलह विआअरु ।
पाविज्जइ अवसफलु जेण जस्स पासे ठवेइउ ।। (स्वयम्भू० 4.9.1)

गोधन की तुलना चांदनी के निधान से करते हुए कवि एक स्थान पर कहता है –

ठामठर्माह घाससंतुट्ठ रत्तीहिँ परिसंठिआ,
रोमंथणवस चलि अणंकिआ ।
दीसंति धवलुज्जला ओम्हाणिहाणाइँ व गोहणा ।।

अर्थात् स्थान-स्थान पर ग्रास के लिए स्तब्धरात्रि में टिके हुए, रोमंथ के कारण चंचल कपोलवाले, श्वेत वर्ण की चांदनी के निधान की तरह ये गोधन दिखाई पड़ रहे हैं।
– वही, 4.9.5

गोइंद के इन पद्यों की तुलना संस्कृत कवि भट्टि से की जा सकती है। भट्टि ने भी इसी प्रकार की उद्‌भावनाएँ अनेक स्थानों पर की हैं।

स्वयम्भू ने गोइंद कवि के एक ऐसे पद्य को उद्धृत किया है, जो महाभारत की कथा से सम्बन्ध रखता है। इससे यह प्रतीत होता है कि गोइंद ने सम्भवतः महाभारत सम्बन्धी कोई रचना लिखी थी। वह पद्य निम्न प्रकार है –

एहु विसमउ सुट्ठु आएसु पाणंतिउ माणुसहो।
दिट्ठीविसु सप्पु कालिअउ।
कंसु वि मारेइ धुउ। कहिं गम्मउ काइं किज्जउ।।

अर्थात् यह बड़ा ही विषम आदेश दिया गया है, जो मनुष्य के लिए प्राणान्तक है। यह कालिय सर्प दृष्टि-विषवाला है, कंस भी निश्चय से मारेगा ही अतः अब कहाँ जाया जाय और क्या किया जाय? – वही 4.10.11

इस कवि का व्यक्तिगत परिचय नहीं मिलता। किन्तु उक्त पद्यों से उसकी प्रौढ़-प्रतिभा का परिचय मिल जाता है। उसकी भाषा-शैली से प्रतीत होता है कि वह पाँचवीं-छठी सदी का कवि रहा होगा।

अणुराय (अनुराग)

कवि अनुराग प्रेम का वास्तविक चित्रण करने के कारण सार्थक नामवाला कवि है। गाथासप्तशती में उद्धृत कवि की गाथाओं का अध्ययन करने से प्रतीत होता है कि "अनुराग" उसका उपनाम होना चाहिए। वास्तविक नाम कुछ और ही रहा होगा। इसमें सन्देह नहीं कि उसके जो उद्धरण मिलते हैं उनमें उसका प्रेम, विरह एवं नायक-नायिकाओं की मनोदशा आदि का सुन्दर चित्रण मिलता है।

गाथासप्तशती में उसकी 4 गाथाएँ संकलित हैं। प्रथम शतक में उद्धृत एक गाथा के अनुसार शंकर पार्वती का पाणिग्रहण हो रहा है। शंकर के हाथ में कंकण के रूप में स्थित वासुकि को शंकर थोड़ी दूर कर देते हैं और पार्वती अनुराग-वश शंकर के समीप चली आती है। सखियाँ पार्वती के इस सौभाग्य की प्रशंसा करती हैं। इस प्रसंग से यह ध्वनित होता है कि कवि ने शंकर एवं पार्वती विषयक कोई प्रबन्ध-काव्य प्राकृत में लिखा होगा। यह गाथा इसप्रकार है –

पाणिग्गहणेच्चिय पव्वईएँ णाअं सहीहिँ सोहग्गं।
पसुवइणा वासुइकंकणम्मि ओसारिए दूरं।।

अर्थात् पार्वती के भय की निवृत्ति के लिए शंकर ने अपने प्रिय वासुकिरूप कंकण को दूर कर दिया। इस प्रकार पाणिग्रहण के समय ही सखियों ने पार्वती के सौभाग्य को जान

लिया। उन्होंने समझ लिया कि पार्वती आज ही जब शंकर की इतनी प्रिय हो रही है तो फिर आगे की बात ही कौन करे ? 1.69

दूसरे शतक की गाथा में कवि ने नायक की चंचल मनोदशा का सुन्दर चित्रण किया है और उसकी उपमा भ्रमर से दी है। वास्तव में चंचल नायक की मनोवृत्ति भ्रमर के समान होती है। कवि ने इस पद्य में उपमान उपमेय का नियोजन बहुत ही सुन्दर किया है। स्पष्ट है कि कवि का यह पद्य भी किसी प्रबन्धकाव्य का अंश होना चाहिए क्योंकि उसका संदर्भ किसी प्रबन्धकाव्य से ही जुड़ता है, मुक्तक से नहीं। प्रस्तुत पद्य में नायिका अपनी सखी से कह रही है –

अण्णण्णं कुसुमरसं जं किर सो महइ महुग्ररो पाउं।
तं णीरसाणं दोसो कुसुमाणं णेग्र भमरस्स ।।

अर्थात् भ्रमर, जो कि अन्यान्य कुसुमरसों का पान करना चाहता है, वह नीरस कुसुमों का ही दोष है भ्रमर का नहीं। तात्पर्य यह है कि एक जगह अपने इच्छानुरूप मधु के उपलब्ध नहीं होने से ही भ्रमर अनेक फूलों पर घूमता है। मुझे प्राप्त करके यथेच्छ रस का उपभोग करते हुए जिस प्रकार इसकी चंचलता दूर होती है, वैसे मेरा सौभाग्य तुम लोगों के द्वारा शीघ्र ही देखा जायगा। 2.39

कवि अनुराग की तीसरी गाथा से भी प्रबन्धात्मकता की ओर संकेत मिलता है। कोई नायिका कुलटा में आसक्त भर्ता को उद्देश्य करती हुई अपनी माता से कहती है –

अंधग्ररबोरपत्तं व माउग्रा मह पइं विलुंपंति।
ईसाग्रंति महं विग्र छेप्पाहिंतो फणो जाग्रो ।।

अर्थात् हे माता, अन्धे के हाथ में स्थित बेर पात्र की तरह मेरे पति को ये कुलटाएँ लूटे ले जा रही हैं एवं मेरे प्रति ईर्ष्यापरायण बन रही हैं मानो पुच्छ से ही फण की उत्पत्ति हो गई हो। 3.40

कवि अनुराग की एक अन्य गाथा से भी हमारे उक्त कथन की पुष्टि होती है–

विज्जाविज्जइ जलणो गहवइधूआइ विग्रग्रसिहो वि।
अणुमरण घणालिंगण पिग्रग्रमसुहसिज्जिरंगीए ।।

अर्थात् सती होने के लिए चिता पर बैठी हुई गृहपति की दुहिता अनुमरण के समय प्रियतम के गाढ़ालिंगनजनित सुखानुभव से उत्पन्न स्वेद-बिन्दुओं के कारण शीतलांगी होकर भयानक अग्निशिखा को ही बुझा रही है। 5.7

जीवएव (जीवदेव)

रिट्ठणेमिचरिउ की अन्त्य प्रशस्ति में इस कवि के जिन उद्धरणों को प्रस्तुत किया गया है उनसे प्रतीत होता है कि वह वीर-रस का कवि था। स्वयम्भूच्छन्द में उसके कुछ पद्य उपलब्ध हैं जिनमें से एक पद्य निम्नप्रकार है –

सव्वा भूमी णरसिर भरिया रत्तोल्लियकद्दमा,
सग्गो सुण्णो हरिहरपमुहा सुरा वि समागया ।
कत्तो गच्छं अमुणियमणिलयं भणंत मिवाउलं,
कंठच्छिण्णं भमइ भडसिरं णहम्मिय केवलं ।।

अर्थात् सम्पूर्ण भूमि मनुष्यों के सिरों से भरी पड़ी है। वह रक्त से लोहित वर्ण की तथा पंकिल हो गई है। स्वर्ग शून्य है क्योंकि हरिहरप्रमुख सभी देवता यहाँ आ गए हैं। "अज्ञात स्थान में कहाँ जाऊँ ?" इस प्रकार कहते हुए व्याकुल कण्ठ से छिन्न वीर का सिर केवल आकाश में ही घूम रहा है। 1.43.1

इस कवि के विषय में अन्य सूचनाएँ नहीं मिलतीं। स्वयम्भू के उल्लेख से यह निश्चित है कि वह उनका पूर्ववर्ती कवि है।

सुग्गीव

कवि सुग्गीव (सुग्रीव) का उल्लेख त्रिभुवन स्वयम्भू ने अपने रिट्ठणेमिचरिउ की प्रशस्ति में किया है। ज्योतिषशास्त्र में हमें सुग्रीव के उल्लेख अनेक स्थानों पर उपलब्ध होते हैं। हमारा अनुमान है कि स्वयम्भू द्वारा उल्लिखित सुग्रीव तथा आचार्य दामनन्दी के शिष्य भट्ट वोसरि द्वारा उल्लिखित सुग्रीव एक ही है। भट्ट वोसरि का समय पं० जुगलकिशोर मुख्तार ने छठी शती माना है। भट्ट वोसरि ने सुग्रीव का उल्लेख इसप्रकार किया है –

सुग्रीव-पूर्व-मुनि-सूचित-मन्त्रबीजैः तेषां वचांसि न कदापि मुधा भवन्ति ।
(केवलज्ञानप्रश्नचूड़ामणि, प्रस्तावना पृ. 37)

सुग्रीव की 5 रचनाएँ ज्ञात हुई हैं, जिनके नाम निम्न प्रकार हैं –

1. आयप्रश्नतिलक, 2. प्रश्नरत्न, 3. आयसद्भाव, 4. स्वप्नफल एवं 5. सुग्रीवशकुन।

आयसद्भाव नामक एक ग्रन्थ कवि मल्लिषेण का भी उपलब्ध है। उसमें सुग्रीव का उल्लेख इस प्रकार किया गया है –

सुग्रीवादिमुनीन्द्रैरचितं शास्त्रं यथायसद्भावम् ।
तत्सम्प्रत्यार्याभिर्विरच्यते मल्लिषेणेन ।।

उक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि सुग्रीव कवि ज्योतिष एवं शकुन-शास्त्रों के प्रणेता थे। इन्हें ज्योतिष में आय-प्रणाली का प्रवर्तक कहा गया है। बहुत संभव है कि इन्होंने कोई अपभ्रंश रचना भी की हो। इनका समय 5वीं सदी सम्भावित है।

स्थानाभाव के कारण यहाँ अन्य अधिक कवियों का परिचय देना सम्भव नहीं है किन्तु हमारा विश्वास है कि स्वयम्भू, त्रिभुवन स्वयम्भू, नयनन्दी, पुष्पदन्त, धवल, धनपाल,

एवं रइधू आदि द्वारा उल्लिखित कवियों की सूची में से लगभग 100 ऐसे कवि एवं लेखक होंगे जिन पर अभी तक कोई विचार नहीं हुआ। यदि प्रयास किया जाय तो एक महत्त्व-पूर्ण साहित्यिक इतिहास की सामग्री प्रकाश में आ सकती है।

---

[1] रिट्ठणेमिचरिउ (अप्रकाशित, जयपुर प्रति) अन्त्य प्रशस्ति
[2] वही, 1.2.9
[3] पउमचरिउ (स्वयम्भूकृत) अन्त्य प्रशस्ति
[4] रइधू साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन – प्रथम सन्धि
[5] तिसट्ठि-महापुराण प्र. भा. 1.9.5
[6] हरिवंसपुराण (अप्रकाशित, जयपुर प्रति) 1.3.18
[7] जिणयत्तचरिउ (अप्रकाशित, जयपुर प्रति) 1.3.2
[8] बाहुबलिचरिउ (अप्रकाशित, जयपुर प्रति) 1.8.21
[9] सम्मइजिणचरिउ (प्रकाश्यमान) 1.9.13-14

मुखपृष्ठ चित्र परिचय

जैनविद्या संस्थान, श्रीमहावीरजी के पाण्डुलिपि विभाग में प्राप्त पउमचरिउ की ५०० वर्ष प्राचीन प्रति के अन्तिम दो पृष्ठ जिसकी अन्त्यप्रशस्ति निम्न प्रकार है –

'संवत् १५४१ वर्षे बैसाख सुदि १५ सोमवासरे अनुराधानक्षत्रे घटिका ६० सुरिताण बहलोल राज्ये'।

स्वयंभू समारोह/संगोष्ठी क्यों और कैसे ?

– डॉ० कमलचन्द सोगाणी

☐

समाज और संस्कृति का अमिट जोड़ा है। संस्कृति के अपने कोई पैर नहीं होते, वह तो समाज के पैरों पर ही चलती है। यदि समाज सशक्त होता है, तो संस्कृति का तेज दूर-दूर तक फैल जाता है, यदि समाज लड़खड़ाता है, तो संस्कृति लड़खड़ा जाती है। समाज का सहारा नहीं होने पर वह पुस्तकों की वस्तु बनी रह जाती है और सहारे के अभाव में उसके उदात्त स्वर मिट जाते हैं। जिस समाज का ध्यान अपने सांस्कृतिक मूल्यों से हटा, उस ही समाज के सांस्कृतिक मूल्य धीरे-धीरे विस्मृत हुए। इतिहास इस बात का साक्षी है कि कई संस्कृतियाँ काल के प्रवाह में बह गईं। समाज कमजोर हुआ और संस्कृति कमजोर हुई। जिस समाज में हमें सांस्कृतिक चेतना कम दिखाई दे, वही समाज सांस्कृतिक मूल्यों को छोड़ता दिखाई देगा। परिवर्तनशील मूल्यों को छोड़ा जा सकता है, किन्तु संस्कृति के चिरस्थायी मूल्य भी यदि उनके साथ छूटने लगें, तो निश्चय ही समाज कुछ ही समय बाद अपने जीवन्त सांस्कृतिक मूल्यों से कट जायेगा। यहाँ यह समझना चाहिए कि समाज तीन प्रकार की शक्तियों से संचालित होता है:– 1. राजनीतिक शक्ति, 2. धन-शक्ति और 3. सांस्कृतिक शक्ति। जब तक सांस्कृतिक शक्ति, राजनीतिक और धन-शक्ति का मार्ग-दर्शन करती है, तब तक समाज विकास की ओर अग्रसर होता जाता है। सांस्कृतिक दिशा के अभाव में राजनीतिक और धन-शक्ति अधोगामी कार्यों की ओर लग जाती है। कल्पना कीजिए कि यदि भारत अहिंसा के मूल्य को विस्मृत कर दे, तो क्या वह भारत रहेगा ? उसकी उदारता और स्व-पर विकास-वृत्ति मिट जायेगी और वह आपसी संघर्षों में अपने को मिटा देगा। जब-जब अहिंसा का मूल्य विस्मृत हुआ, तब-तब गांधी जैसे महापुरुष इस देश में पैदा हुए और अहिंसा की पुनर्स्थापना हुई और हम विश्व इतिहास में अपना स्थान बना सके।

भारत विभिन्न भाषाओं का देश है। यहाँ अति प्राचीन काल से ही सांस्कृतिक अभिव्यक्ति के लिए लोक-भाषा में साहित्य लिखा जाता रहा है। जीवन के विविध मूल्यों के प्रति जनता को जागृत करना और लोक-जीवन के विविध पक्षों को लोक-भाषा में अभिव्यक्त करना – ये दोनों ही बातें महत्त्वपूर्ण समझी जाती रही हैं। लोक-भाषा में ही जन-चेतना की हृदय-स्पर्शी अभिव्यक्ति होती है। अपनी व्यक्तिगत अनुभूति के माध्यम से साहित्यकार जन-चेतना में नए तत्वों का प्रवेश कराने के लिए लोक-भाषा को चुनकर उसमें सांस्कृतिक प्राणों का संचार करता है। वेद लोक-भाषा में रचित ग्रन्थ हैं। महावीर और बुद्ध-युग में तथा उसके पश्चात् भी लोक-भाषा में साहित्य निर्माण होता रहा। प्राकृत, महावीर, बुद्ध और उनके आस-पास के लाखों लोगों की मातृ-भाषा रही है। कुछ शताब्दियों तक प्राकृत में विभिन्न प्रकार का साहित्य लिखा जाता रहा। यह एक वास्तविकता है कि लोक-भाषा बदलती चलती है और जो बदलती चलती है वही लोक-भाषा होती है। धीरे-धीरे नई भाषा का जन्म अपभ्रंश भाषा के रूप में हुआ और ईसा की छठी शताब्दी में अपभ्रंश भाषा साहित्यिक अभिव्यक्ति के लिए सशक्त माध्यम बन गई। "शीघ्र ही उसे स्वयंभू जैसा प्रतिभाशाली कवि प्राप्त हो गया जिसने भारतीय वाङ्मय के इतिहास में अपभ्रंश-युग का प्रवर्तन किया।"[1] अपभ्रंश में साहित्य रचना 7वीं शती से 17वीं शती तक होती रही। इस तरह से एक हजार वर्ष तक इस भाषा में साहित्य निर्माण होता रहा। विद्वानों का मत है कि अपभ्रंश लम्बे समय तक उत्तरी भारत की भाषा बनी रही। डॉ० चाटुर्ज्या के अनुसार शौरसेनी अपभ्रंश राष्ट्रभाषा बन गई थी। पश्चिम से पूर्व तक उसी का प्रयोग होता था। मेरा विश्वास है कि भारत के सभी वर्गों ने इसमें साहित्य लिखा होगा। यद्यपि ग्रन्थ-भण्डारों से प्राप्त पाण्डुलिपियों के आधार पर यह अनुमान होता है कि इसमें सबसे अधिक साहित्य-रचना जैनों ने की है, पर मुझे ऐसा लगता है कि दूसरे वर्गों द्वारा रचित ग्रन्थ देश में उथल-पुथल के कारण बचाए नहीं जा सके होंगे। जब कोई भाषा देश के अधिकांश भाग में व्याप्त हो, तो साहित्य-रचना एक ही वर्ग करे ऐसा सम्भव नहीं लगता है। हाँ, अति प्राचीन समय से ही लोक-भाषा के प्रेमी होने के कारण जैनों का अपभ्रंश-साहित्य-निर्माण में विशेष योगदान रहा यह तो स्वीकार किया जा सकता है। "साहित्य-रूपों की विविधता और वर्णित विषय-वस्तु की दृष्टि से अपभ्रंश साहित्य बड़ा ही समृद्ध और मनोहारी है।"[2]

इस तरह से लोक-भाषा अपभ्रंश को उच्चासन पर प्रतिष्ठापित करनेवाले हैं, स्वयंभू। वे असाधारण प्रतिभा के धनी थे। इसी कारण उन्होंने जन-सामान्य की भाषा में दो अमर काव्यों की रचना कर साहित्य के क्षेत्र में अपभ्रंश को गौरवपूर्ण स्थान दिलाया। इन काव्यों का प्रभाव परवर्ती साहित्य पर असंदिग्ध है। महाकवि तुलसी भी स्वयंभू के कई तरह से ऋणी हैं। राहुल सांकृत्यायन का कहना है कि "हिन्दी कविता के पाँचों युगों (1. सिद्ध-सामन्त-युग, 2. सूफी-युग, 3. भक्त-युग, 4. दरबारी-युग, 5. नवजागरण युग) के जितने कवियों को हमने यहाँ संगृहीत किया है उनमें यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि स्वयंभू सबसे बड़ा कवि था। वस्तुतः वह भारत के एक दर्जन अमर कवियों में से एक था। आश्चर्य और क्षोभ दोनों होता है कि लोगों ने कैसे ऐसे महान् कवि को

भुला देना चाहा ।"[3] क्या यह इससे भी बड़ा आश्चर्य नहीं है कि अपभ्रंश की पाण्डुलिपियों का पता ही 60 वर्ष पहिले लगना शुरू हुआ ? पाण्डुलिपियाँ भण्डारों में पड़ी रहीं, पर हमें पता ही नहीं था कि वे अपभ्रंश भाषा की हैं। एक अजीब बात यह लगती है कि यद्यपि अपभ्रंश भाषा में साहित्य 17वीं शताब्दी तक लिखा जाता रहा, किन्तु हेमचन्द्र को छोड़कर किसी ने भी अपभ्रंश का व्यवस्थित व्याकरण लिखने का प्रयास क्यों नहीं किया ?

विद्वानों की सम्मति में यह एक निर्विवाद तथ्य है कि स्वयम्भू अपभ्रंश के महाकवि हैं और उनकी कृतियों के हिन्दी-चरित-काव्यों पर प्रभाव को भुलाया नहीं जा सकता है। इतना सब कुछ होते हुए भी भारत में स्वयम्भू अपनी गरिमा के अनुरूप प्रतिष्ठित नहीं हो सके हैं। उनका रिट्ठणेमिचरिउ अभी भी अप्रकाशित है। इससे हम सहज में ही अनुमान लगा सकते हैं कि भारतीय समाज सामान्य रूप से अपभ्रंश साहित्य में निहित और विशेष रूप से स्वयम्भू द्वारा प्रतिपादित सांस्कृतिक मूल्यों से कटा हुआ है। उनको पुनर्जीवित करने में कितना अनवरत श्रम चाहिए उसको सोचकर यदि हम व्यवस्थित रूप से कार्य प्रारम्भ करदें तो 50 वर्षों में हमें कुछ आशानुरूप फल मिल सकेगा।

स्वयम्भू की काव्य-प्रतिभा, प्रभावशीलता, मौलिकता और जनभाषा के प्रति उनकी अगाध निष्ठा के कारण यह निश्चय किया गया कि स्वयम्भू समारोह/संगोष्ठी का आयोजन किया जाए और स्वयंभू विशेषांक निकाला जाए। इस प्रकार हम स्वयंभू की रचनाओं में लोक-रुचि उत्पन्न करने के साथ-साथ उनके समालोचनात्मक अध्ययन को एक व्यवस्थित प्रयास के रूप में प्रस्तुत कर सकेंगे। स्वयंभू समारोह/संगोष्ठी की सार्थकता मेरे विचार से तब ही होगी, जब हम निम्नलिखित बिन्दुओं के प्रति सजग होकर उनको व्यावहारिक रूप प्रदान करने का दृढ़ संकल्प करेंगे :-

1. अपभ्रंश की सभी पाण्डुलिपियों की माइक्रोफिल्म/जीरोक्स करवाकर श्रीमहावीरजी में रक्खी जाएँ, जिससे ग्रन्थ-सम्पादन करने वालों को सारी सामग्री एक ही जगह उपलब्ध हो सके।

2. अपभ्रंश साहित्य पर शोध करनेवाले छात्रों एवं विद्वानों को उनकी आवश्यकतानुसार सुविधाएँ प्रदान की जाएँ।

3. विद्वानों द्वारा सम्पादित अपभ्रंश की पाण्डुलिपियों को प्रकाशित करने की व्यवस्था की जाए।

4. स्वयम्भू के रिट्ठणेमिचरिउ को शीघ्र प्रकाशित किया जाए।

5. स्वयम्भू कोश के निर्माण को प्राथमिकता दी जाए।

6. ग्रीष्मावकाश में 1 माह के लिए अपभ्रंश ओरिएण्टेशन पाठ्यक्रम चलाया जाए। इस पाठ्यक्रम का अध्ययन कम से कम 30 विद्यार्थियों को कराया जाए।

7. कुछ ही समय बाद स्वयंभू ग्रन्थ अकादमी स्थापित की जाए। इसी के अन्तर्गत अपभ्रंश-राजस्थानी-हिन्दी की सारी योजनाएँ चलाई जावें। इस अकादमी का संचालन श्रीमहावीर तीर्थ-क्षेत्र कमेटी करे।

8. स्वयंभू, पुष्पदन्त, धनपाल, रइधू आदि कवियों पर विस्तार व्याख्यान करवाए जावें।

इस तरह से हम अपभ्रंश के प्रतिनिधि महाकवि स्वयंभू एवं अन्य महाकवियों और कवियों की रचनाओं का मूल्यांकन कर अपनी साहित्यिक धरोहर को जन-जन तक पहुँचा सकेंगे और भारत की इन विस्मृत विभूतियों को लोक-जीवन में स्थापित कर सकेंगे।

---

[1] डॉ० संकटाप्रसाद उपाध्याय, महाकवि स्वयम्भू, पृ० 5

[2] वही, पृ० 12

[3] वही, पृ० 13

अपभ्रंश के प्रथम महाकवि ! विज्ञ ! स्वयंभू ! तुम्हें प्रणाम

(श्री अनूपचन्द न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न, जयपुर)

□

(1)

दक्षिण देश प्रांत कर्णाटक
जन्मभूमि, कवि वंश कुलीन।
मारुत पिता पद्मिनी माता
साहित्यिक सेवा तल्लीन ॥

(2)

संस्कृत औ प्राकृत भाषा के
पारंगत विद्वान महान।
लोक भावना हृदयंगम कर
दिया लोक भाषा पर ध्यान ॥

(3)

मध्य युगी हिन्दी भाषा की
एक ओर थी अविरल धार।
एक ओर प्राकृत की बहती
मधुर काव्य-धारा रसदार ॥

(4)

इन दोनों की कड़ी बीच की
अपभ्रंश भाषा है एक।
वही बनी कविता का माध्यम
धारा उस की बही अनेक ॥

(5)

कवि की वाणी हुई प्रस्फुटित
वही हुई भाषा-आधार।
बड़ी बड़ी रचनाएँ रचकर
सद् साहित्य किया उद्धार ॥

(6)

रिट्ठणेमि चरिउ की रचना
कृष्ण कथा का ले आधार।
राम कथा को ढाला तुमने
पउम चरिउ में सविस्तार ॥

(7)

रचा स्वयंभूछंद मनोहर
छंद शास्त्र का ज्ञान अपार।
अलंकार रसमयी सूक्तियाँ
भरदीं तुमने सभी प्रकार ॥

(8)

प्रथम लोक भाषा के कवि हो
मार्ग प्रदर्शक तुलसीदास।
शंभु रूप में तुम्हें स्मरण कर
पाया मंगलमयी प्रकाश ।।

(9)

दोनों भक्त राम गुण गायक
एक सकाम एक निष्काम।
शिव का भक्त राम तुलसी का
जिन का भक्त स्वयंभू राम ।।

(10)

मर्यादा पुरुषोत्तम, तुलसी
राम, कई लेते अवतार।
राम स्वयंभू चरमशरीरी
उतर गये हैं भव से पार ।।

(11)

स्वयं स्वयंभू पुत्र स्वयंभू
काव्य साधना-रत स्वयमेव।
स्वयं आत्म-अनुभूति हेतु तुम
रचे पुराण स्वयंभू देव ।।

(12)

रचना स्वांतसुखाय तुम्हारी
ध्येय आत्म अभिव्यक्ति महान।
यश:कीर्ति चहुंदिशि में फैली
विद्वज्जन करते गुणगान ।।

(13)

यद्यपि तन कृश लम्बा पतला
चिपटी नाक दात विकराल।
किंतु तुम्हारी रचनाएँ है
कितनी उत्तम और विशाल ।।

(14)

सदा आत्म-सौंदर्य प्रशंसक
प्रतिभाशाली परम उदार।
सहृदयी संतोषी भावुक
गुणी विवेकी स्नेहागार ।।

(15)

काव्य सरसता अलंकारिता
और भक्ति तन्मयता रूप।
भाषा प्रांजल और प्रौढ़ता
भावों की अभिव्यक्ति अनूप ।।

(16)

सिद्धहस्त प्रकृति चित्रण मे
व्यंग और उत्तम संवाद।
गागर में सागर को लाये
सदा रहेगा सब को याद ।।

(17)

भारतीय संस्कृति उन्नायक
महाकाव्य की ज्योति महान।
करे प्रकाशित मार्ग राष्ट्र का
हो जावे सब का उत्थान ।।

(18)

सबगुण से सम्पन्न काव्य हैं
गुण गौरव गरिमा के धाम।
अपभ्रंश के प्रथम महाकवि
विज्ञ, स्वयंभू तुम्हें प्रणाम ।।

['जैनविद्या संस्थान' की स्थापना जिन उद्देश्यों को लेकर की गई उनमें प्राकृत, अपभ्रंश, संस्कृत, तमिल, राजस्थानी, हिन्दी आदि भाषाओं के अप्रकाशित जैन वाङ्मय को आधुनिक शैली मे सम्पादित/अनूदित रूप में जन-जन तक पहुंचाना प्रमुख है।

'जैनविद्या' के स्वयंभू विशेषांक में इस रचना का प्रकाशन इस उद्देश्य की सम्पूर्ति की ओर एक कदम मात्र है। अपभ्रंश भाषा की अब तक अप्रकाशित इस रचना के शब्द-शिल्पी हैं माथुर संघ के उदय मुनीश्वर के शिष्य मुनिश्री विनयचन्द। रचनाकार के अनुसार उसने इसे त्रिभुवनगिरिपुर नामक स्थान पर अजय राजा के राज्य बिहार में रचा था जिसका समीकरण वर्तमान राजस्थान राज्य की भू०पू० करौली रियासत की प्राचीन राजधानी तिमनगढ़ से किया जा सकता है जो हिण्डौन सिटी तथा दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी से लगभग 35 कि०मी० की दूरी पर अवस्थित है और बस मार्ग से जुड़ा है।

रचनाकार ने यद्यपि इसके रचनाकाल का उल्लेख नहीं किया है किन्तु ऐतिहासिक साक्ष्यों के आधार पर यह आज से 800 वर्ष पूर्व 13वीं शती वि० का पूर्वार्द्ध प्राय: सर्वसम्मत है।

कवि ने इसका शीर्षक राजस्थानी महिला की सुख-सौभाग्य की प्रतीक चूनड़ी को जिसका विशेषत. सांस्कृतिक महत्त्व है, चुना है। यह विवाह के पश्चात् की प्रथम दीवाली को प्रीतम के प्रेमोपहाररूप मे उढ़ाई जाती है। इसे लेकर राजस्थान में बहुत से सरस शृंगारिक लोकगीत प्रचलित है। आज भी विशिष्ट अतिथियों के आगमन पर चूनड़ी के साफे उन्हें भेंटस्वरूप प्रदान किये जाते हैं।

रचनाकार ने चूनड़ी के शृंगारिक धरातल को फूल-पत्तियों, पशु-पक्षियों, स्त्री-पुरुषों के लौकिक एवं शृंगारिक चित्रों के स्थान मे जैनधर्म और दर्शन की मान्यताओं से सँजो उसे आध्यात्मिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक स्वरूप प्रदान करना चाहा है जो उसकी परिष्कृत एवं आध्यात्मिक रुचि तथा जिनवाणी के प्रचार-प्रसार की उत्कट इच्छा का परिचायक है। यह एक प्रकार से जैन पारिभाषिक शब्दों का कोष ही बन गया है।

रचना की भाषा, प्राचीनता और उपादेयता को देखते हुए उसे यहाँ सानुवाद प्रकाशित किया जा रहा है। अनुवादक हैं संस्थान के पाण्डुलिपि-सर्वेक्षक प्रसिद्ध विद्वान् पं० भंवरलाल पोल्याका, जैनदर्शनाचार्य, साहित्यशास्त्री।

संस्थान में उपलब्ध एक ही प्रति के आधार पर यह कृति सानुवाद प्रकाशित की जा रही है। इसमें जैसे ही त्रुटियाँ विदित होंगी या कराई जाएंगी उनको अगले प्रकाशन में दूर करने का प्रयत्न किया जायगा। — प्रधान सम्पादक]

अपभ्रंश भाषा की 800 वर्ष प्राचीन रचना

चूनड़िया

विणएं वंदिवि पंचगुरु ।

मोहमहातमतोडणदिनयरु, वंदिवि वीरणाहु गुरु गणहरु ।
तिहुवणस्वामी गुणतिलउ, मोक्खहं मग्गु पयासण जगगुरु ।।
णाह लिहावहि चूनड़िया, मुद्धउ पभणइं पिय जोडिवि करि । विणएं वंदिवि····।। 1 ।।

पणविवि कोमलकुवलयणयणी, लोयालोयपयासण वयणी ।
पसरिवि सारद जोण्ह-जिमा, जा अंधारउ सयलु विणासइ ।।
सामुहु णिवसउ माणुसहं, हंसवहू जिम देवि सरसइ । विणएं················।। 2 ।।

माथुरसंघह उदयमुणीसरु, पणविवि बालयंदु गुरु गणहरु ।
जंपइ विणइमयंकु मुणि, आगमु दूगमु जइ वि ण जाणउ ।।
मा लीजहु अवराहु महो, भविअहु इह चूनडीय बखानउ । विणएं················।। 3 ।।

हीरावंतिपंति पयडंती, गोरड वोलइ पिउ विहसंती ।
सुन्दर जाइ सु चेयघरि, महु वय किज्जइ सुहग सुलक्खण ।।
लइ छिपावहि चूनडिया, हउ जिणसासणि सुट्ठु वियक्खण । विणएं················।। 4 ।।

वल्लहं जइ ण लिहावण आवहि, छिपुलडा महु वयण सुणावहि ।
तिण्णि लोय तिहिं भंगि जुया, चउदह रज्जु लिहहिं उडसें ।।
सत्तरज्जु तलि सुरगिरिहि, उप्परि सत्त सत्त पिंडसें । विणएं················।। 5 ।।

मेरुमहागिरि जंबूदीव हो, खारसमुद्द परिट्ठिय सीमहु ।
दीवसमुद्द असंख गुणा, मज्झलोय सत्तह सतु खेत्तइं ।।
सरि सत्ती स कुलपव्वयहं, भज मिलेछ भोयमहि जुत्तइं । विणएं················।। 6 ।।

पुणु खालवइं कुभोयधरालइं, लवणकालजलमइं जकरालइं ।
अवसप्पिणि उसप्पिणिय, छह छह कालइ लिहहि णिरुत्तइं ।।
कोडाकोडिउ सायरहं, एक्क एक्क दस दस पविहुलइं । विणएं················।। 7 ।।

चूनड़ी

पत्नी अपने प्रीतम से हाथ जोड़कर कहती है –

विनयपूर्वक पंचगुरुओं की वन्दना करके, मोहरूपी गहन अंधकार को नष्ट करने के लिए सूर्यस्वरूप, गणधरों के गुरु, त्रिलोकीनाथ, गुणतिलक, मोक्षमार्ग प्रकाशन हेतु जगद्गुरु ऐसे महावीर स्वामी को नमस्कार करके हे नाथ ! मेरे लिए चूनड़ी लिखवा कर लाना ।।1।।

कोमलकमलनयनी हाथ जोड़ती है । (चूनड़ी ऐसी हो जिससे) समस्त लोकालोक को प्रकाशित करने वाले जिसके वचन हैं ऐसी शारदा का अच्छी तरह प्रसार हो और इस अंधकार का सम्पूर्णरूप से नाश हो । सामने रहने वाली स्त्री मुझ पर ऐसे हंसती है मानो वह स्वयं सरस्वती ही हो ।।2।।

यद्यपि मैं विनयचंद मुनि दुर्गम आगम को नहीं जानता तथापि बालचन्द्र के समान गुरु गणधर माथुर संघ के उदय मुनीश्वर को प्रणाम करके भव्यजनों के लिए इस चूनड़ी की रचना करता हूँ । मेरे अपराध पर ध्यान मत देना ।।3।।

हीरे जैसे दांतों की पंक्ति को प्रकाशित करती हुई गौरी अपने पति से हंसकर बोली – हे सुन्दर ! मन्दिर जाने के पश्चात् मुझ पर दया कर ऐसी सौभाग्य चिह्न चूनड़ी छपवाना जिस पर शुद्ध विचक्षण जिनशासन हो ।।4।।

हे वल्लभ ! यदि तुम चूनड़ी लिखवा कर नहीं लावोगे तो छींपा मुझे ताना मारेगा । 14 चौदह राजू ऊँचा तीन भाग वाला तीन लोक बना कर सुमेरु पर्वत की तलहटी से सात राजू में सात भूमियों पर सात-सात पटल बनावें ।।5।।

सुमेरु पर्वत के चारों ओर जम्बूद्वीप और जम्बूद्वीप के चारों ओर लवणसागर तथा उनसे असंख्यात गुणे द्वीप समुद्र दिखा कर सात क्षेत्रों में सात वृक्ष, कुलाचल पर्वत (6), सात नदी युगल, आर्यखण्ड, म्लेच्छखण्ड तथा भोगभूमि की रचना करे ।।6।।

फिर 96 कुभोगभूमियों, लवण और काल नामक अमरालयों (समुद्रों), आगमोक्त अवसर्पिणी तथा उत्सर्पिणी के छह-छह काल और एक-एक सर्पिणी के दस-दस कोड़ा-कोड़ी सागर प्रमाण काल की प्रविष्टि करे ।।7।।

चउवह कुलयर जिण चउवीसहं, लिहि पुराण बारह चक्केसहं ।
वासुएव बलएव णव, णव पडिवासुएव संधारहिं ।।
कामएव णारय सुमरि, पुणु एयारहं रुद्दपयारहिं । विणएं················।। 8 ।।

दंसण सुद्धि पमुह अणुसरइं, सोलहकारण लिहि जिणचरियइं ।
तिहि भेयहिं समत्तु लिहि, सत्तभेय मिच्छत्तु मसंभरि ।।
पंचणाण अण्णाण तिया, दंसण चारि पयसें उद्धरि । विणएं················।। 9 ।।

लिहि एयारह सावयपडिमा, बारहं भिक्खुपडिम मुणिगम्मइं ।
अट्ठावीस वि मूलगुणा, बारह विहि तउ दह विहु संजमु ।।
सहस अट्ठारह सील भणि, पंचाचारु म वीसरु उत्तमु । विणएं················।।10।।

गुणहं लक्खचउरासी टीपहि, चउवह जीवसमास वि अप्पहि ।
चउवह लिहि गुणट्ठाण पुणु, वीस परूपण चउवह मग्गण ।।
छह पज्जत्ति पाण दहं, चारिउ गइ तहं सिद्ध णिरंजण । विणएं················।।11।।

णाणावरण पंच दुइ वेयण, णव दंसण आवरण महावण ।
अट्ठावीसहं मोहणहं, आउ चारि दुइ गोत्त मु छंडहि ।।
णाम पयडि तेणवइ पुणु, अन्तराय पंच वि लइं मंडहिं । विणएं················।।12।।

णव पयत्थ सत्त वि लिहि तचइं, छह दव्वइं पंच थिय सव्वइं ।
दुइ पमाण णव सुणहि णया, चारि वि णामइं अइ वि ण लोयइं ।।
मइ छत्तीस वि तिण्णि सया, वार संग सट्ठि वि राखेवें । विणएं················।।13।।

चउवह पुव्व पयव वि चउवह, लिहि संपुणु समोसरणु ।
सत्त पयार संघ जिण सयहं, मणपज्जय दुइ भेय ठिऊ ।।
तिण्णिसट्ठिसयहि लिहि कुमयहिं । विणएं················।।14।।

लइं लेहिणि महुसुत्तउ किज्जइ, चुनडिया चट्ट मंडिवि दिज्जई ।
ससरीरइ चारि मणा, चारि वि वयणइं पणरह जोयइं ।।
पणरहं लिहहि पमाय, पुणु चउवह मलपरिहारइं थइं । विणएं················।।15।।

गुत्तिउ सल्ल वण्ड तिहि भेयहि, सोलहं विहि कसाय मावयहि ।
सुमरि असंजमु सत्तरहं, णव कसाय णव जोणि लिहितहं ।।
छह लेसइं धम्मु धरि, चारि सण्ण भय सत्त ति गारव । विणएं················।।16।।

चारि झाण चउ भेयहि, कहियहि लिहहि ।
वोस पणवीस तहो, अट्ठ वि अगइं सत्त सरीरइं ।।
विणउ विसेसहिं पंचविहुं, जं करेवि मुणि गय भवतीर हो । विणएं················।।17।।

पुराणों में वर्णित 14 कुलकर, 24 जिन, 12 चक्रवर्ती, 9 वासुदेव, 9 बलदेव, 9 प्रतिवासुदेवों का संवरण करे, फिर (24) कामदेव, 9 नारद और 11 रुद्रों का स्मरण करे ।।8।।

जिनचर्या में अनुसरणीय और दर्शन शुद्धि जिसमें प्रमुख है उस सोलह कारण (भावना) का नाम लिख कर उसके समस्त भेद लिखे । मिथ्यात्व के ७ भेदों में स्याही भरे । 5 ज्ञान, 3 अज्ञान और 4 दर्शनों का प्रयत्नपूर्वक उद्धरण करे ।।9।।

श्रावक की 11 प्रतिमा, मुनिगण द्वारा चिन्तनीय 12 भिक्षुप्रतिमा (12 अनुप्रेक्षा) लिखे । 28 मूलगुण, 12 तप, दस विध संयम, 18000 शील के भेद तथा उत्तम पंचाचारों को न भूले ।।10।।

84 लाख गुण टीपे, 14 जीव समास भी याद रखे, फिर 14 गुणस्थान, 20 प्ररूपणा, 14 मार्गणा, 6 पर्याप्ति, 10 प्राण, 4 गति तथा निरंजन सिद्ध लिखे ।।11।।

महावनस्वरूप ज्ञानावरणीय की 5, वेदनीय की 2, दर्शनावरणीय की 9, मोहनीय की 28, आयु की 4, गोत्र की 2 प्रकृतियाँ न छोड़े । फिर नाम कर्म की 93 और अन्तराय कर्म की 5 प्रकृतियाँ भी मंडवा लेना ।।12।।

नव पदार्थ, सात प्रकार के तत्त्व, छह द्रव्य, पंच अस्तिकाय ये सब भी लिखे, दो प्रमाण न छोड़े और चार नयों का नाम, मतिज्ञान के 336 भेद, बारह अंग और संख्यात शब्द (अंग बाह्य द्रव्य श्रुत) को भी न लोपे ।।13।।

14 पूर्व, 14 पद और सम्पूर्ण समवसरण की रचना करे जिसमें चरण सहित जिन तथा सात प्रकार का संघ बतावे । मनःपर्यय ज्ञान के दो भेद प्रदर्शित करे और 363 कुमत लिखे ।।14।।

लेखिनी लेकर महाव्रत बनावे । चूनड़ी बढ़िया मांड कर देवे । 7 शरीर, 4 मन, 4 वचन, 15 योग और 15 प्रमाद लिखकर 14 मल परिहार प्रदर्शित करे ।।15।।

3 गुप्ति, 3 शल्य, 3 दण्ड लिख कर 16 प्रकार की कषाय मांड़े । 17 प्रकार के असंयमों का स्मरण करे । 9 कषाय और 9 योनि लिखे । 6 लेश्या और धर्म (10) लिख कर चार संज्ञा, सात भय और सात गारव लिखे ।।16।।

4 ध्यान के 4-4 भेद भी उससे कहना, लिखे । 25 दोष, 8 अंग, 7 शरीर और विशेष रूप से पांच प्रकार का विनय, जिसका पालन करके मुनिगण भवतीर चले गये, लिखे ।।17।।

अट्ठोत्तरसउ हिंसा भेयहिं, वह विहु सव्व वियारहिं ।
बंभु मयासहिं भेय रावि, वहिरंतर दस चउदसगंथइं ।।
आयरियहं छत्तीस गुण, अरिरि विण्णाणिय लिहहि थिर हत्थइं । विरणएं................।।18।।

बारह अणुपेहाऊ लिहियंकर, मुणि बावीस परीसह दुद्धर ।
तेत्तीसइं अवासणइं रयणत्तउ, लिहि सिवसुह साहणु ।।
अणुवय गुण सिक्खावयइं, बारह विहिसउ । विरणएं................।।19।।

किरिया तेवरणवइं गिहि धम्महं, तेरह रिसिधम्महं निम्मलहं ।
पंचवीस लिहि भावणइं, चारि समइत हो जीव हो अंत हो ।।
अट्ठ वि गुण देवत्तणहं, लिहि मिच्छत्तु अणंताणंत हो । विरणएं................।।20।।

सासनगुण कोडिउवावरणइं, सत्तकोडिसय सम्मु मुणि ।
तेरह कोडिउ सावयट्ठाणहो, तिहिउणियणवकोडि लिहि ।।
मुणि एयारह गुण परिजाणहि,................................। विरणएं................।।21।।

इगुडयाल-सत्त-उणहत्तरि-पंचअट्ठ लिहि जिणहरें ।
अन्तरदसदेवहं संथाव मुणि, दसविध भावरण वसुविह विंतर ।।
पंच पयारहिं जोइसिय, बारह कप्पवासि लिहि सुरवर । विरणएं................।।22।।

पंच भाव णवलद्धि जिणिवहं, सत्तरिद्धि लिहि गणहरविंदहं ।
पंचाचारह दस वि विस, पवयण अट्ठ अट्ठदस मुंडण ।।
चउ मंगलत्र तूम सरण, पंच इ सण्ण चारि मरण खंडण । विरणएं................।।23।।

तिण्णि काल किरिया पणवीसइ, लिखि अंन्तयड अणुत्तर देसइ ।
आराहण भयवइ लिहइ, जा चालीसहिं सुत्तइं बद्धी ।।
पंचमरण जेसहिं कहिय, चेयण लिहिलावहि सुवसिद्धी । विरणएं................।।24।।

पंच णिग्गंथ सत्त सिय भंगइं, णव णिहि चउदउ रयण समग्गइं ।
बुद्धेहिं वउ बल सत्त गुण, दव्व सपज्जय गुण संभालहिं ।।
दस आलोयण दोस लिहि, थावर पुणु छज्जीव म चालहि । विरणएं................।।25।।

चउतीसइ लिहियइ समसारइं छ विहु पुग्गलु छह आहारइ ।
छह संठाणइं संहणण, सत्त वि एसण सुद्धिउ लिहितहं ।।
अन्तराय बत्तीस भणि विज्जावच्च भत्ति चउदस विह । विरणएं................।।26।।

पंडिय मरण तिण्णि तुहुं जाणहि, अट्ठविधेय पंचकल्याणइं ।
वायारह लिहि सत्त गुस, छिपहिं अट्ठसुद्धि दसभावइं ।।
सत्त व सउ वेयट्टगिरि, पुव्वइन्व होत्तरसउ सगवासइं । विरणएं................।।27।।

हिंसा के 8 भेदों और 10 प्रकार के सत्य का विचार करे। ब्रह्मचर्य के 9, दस बाह्य तथा चौदह अन्तरंग परिग्रहों को प्रकाशित करे। आचार्य के 36 गुण और अरहंतों के (46) जानकर स्थिर हाथों से लिखे ॥18॥

बारह अनुप्रेक्षाएं लिखकर मुनि के दुर्द्धर बाईस परीषह, 33 अवासनाएं, शिवसुख का साधन रत्नत्रय लिखे। 12 तप और (पांच) अणुव्रत, (तीन) गुणव्रत (चार) शिक्षाव्रत भी लिखे ॥19॥

गृहस्थ धर्म की 53 क्रिया तथा 13 प्रकार का मुनिधर्म मांडे, 25 भावना, सम्यक्त्व की 4 भावना, जीव जंतु, देवता (सिद्ध) के ८ गुण, और मिथ्यात्व के अनंतानन्त भेद भी लिखे ॥20॥

सासादन गुणस्थान में 52 कोड़ि, सम्यक्त्व गुणस्थान में 700 कोड़ि, श्रावक गुणस्थान में 13 कोटि तथा 11वें गुणस्थान तक तीन करोड़ मुनियों का परिज्ञान करे ॥21॥

आठ कोड़ि छप्पन लाख सिताणवे हजार चार सौ इक्यासी जिन मंदिर (अकृत्रिम) लिखे। अब देवों के भेद सुन – 10 विध भवनवासी, 8 विध व्यन्तर, 5 विध ज्योतिषी और 12 प्रकार के कल्पवासी देवों को लिखे ॥22॥

5 भाव, जिनेन्द्र की 9 लब्धि, गणधर वृन्दों की 7 ऋद्धियां लिखे, 5 आचार, 10 दिशा, 8 प्रवचन (5 समिति, 3 गुप्ति), 18 जन्म मरण, 4 मंगलोत्तम, 3 उत्तम शरण, 4 संज्ञा और मन के भेद (2) लिखे ॥23॥

3 काल, 25 क्रिया, अन्तर्द्वीप, अनुत्तर देश, चालीस सूत्रबद्ध भगवती आराधना लिखे, पंच मरण और सुप्रसिद्ध जितने चेतन हैं वे सब लिखवा कर लाना ॥24॥

5 निर्ग्रंथ, 7 शील के भंग, 9 निधि और 14 रत्न ये सब, 2 बुद्धि, 3 बल, सत्, द्रव्य, गुण और पर्याय इनको संभाले। 10 आलोचना दोष लिखकर स्थावर और 6 जीव न भूले ॥25॥

34 अतिशय लिख कर 62 पुद्गल, 6 आहार, 6 संस्थान, 6 संहनन, 7 एषणाशुद्धि लिखे। 32 अन्तराय और 14 वैयावृत्य भक्ति के लिये भी कहना ॥26॥

8 विवेक, 5 कल्याणक, 3 पण्डितमरण तुम जानते हो। दातार के 7 गुण लिख कर 8 शुद्धि और 10 भाव, 107 वेयड्ढगिरि और खगवासियों के 108 पुर और इन्द्रक छापे ॥27॥

कप्पवासि चउलइं तेसट्ठि वि, णिहिय जर पूरे वि चउसट्ठि वि ।
पंचवण्ण छह रस मणहिं, सत्त वि सर बुह गंध णिवत्तइं ।।
अट्ठ फरिस चउ वाण पुणि, अट्ठावीस वि विसय समप्पहिं । विणएं...............।।28।।

पाडिहेर अट्ठ वि वयहं, पडिलेहण गुण पंच मुणिवहं ।
पंच अट्ठसय पंच तिय, अट्ठावीसइं गारह अक्खिय ।।
अमइं पुव्व पयणियइं, चउवह गुण सायार म संकिय । विणएं...............।।29।।

लिवि अट्ठारहं कला बहत्तरि, चउसट्ठि वि विण्णाण मणंतरि ।
रिउ छह बारह मास लिहि, पुट्ठवि मेव छत्तीस विसेसहि ।।
सत्तवीस अणगार गुण, जिणहर सहसकूडु महु वरिसहि । विणएं...............।।30।।

सत्ता उउ उदीरण कम्महं, लिहि सविसेस विहिय जिणधम्महं ।
रसउ लिहि वि समप्पियउ, मुद्दउ धरि गयउ ऊढिवि चूणिय ।।
विणयचंद मुणि वयण सुणि, उत्तम सावय धम्म पवण्णिय । विणएं...............।।31।।

तिहुयणगिरिपुरु जगविक्खायउ, सग्गखंडु णं धरयलि आयऊ ।
तहिं णिवसंति मुणिवरिणा, अजयणरिंदहु रायविहारि ।।
वेगें विरइय चूनडिया, सोहहु मुणिवर जेसु । विणएं...............।।32।।

इय चूणडिय मुणिंद पयासिय, संपूर्णी आगमि जिण भासिय ।
पढहिं सुणहिं जे सद्दहहिं, सो नर सिवपुरि लहर पयत्तें ।।
ते पावहि सिवसुक्ख णिहाणइं, भव साय (र) लीलहिं तिरहिं ।
मोक्खु सोक्खु पुणु ते नर पावहिं ।। विणएं वंदिवि....।।33।।

कल्पवासियों के 63 पटल और 64 खरपुर (विद्याधर नगर) भी लिखकर आगम में बताये 5 वर्ण, 6 रस, 7 सुर, 2 गंध, 8 स्पर्श, 4 दान, 28 विषय ये सब भी गिणावे ।।28।।

जिनेन्द्र भगवान् के 8 प्रातिहार्य, मुनियों के 5 प्रतिलेखना गुण, अंगपूर्वों के 1128358005 पद, सागार के 14 गुण होते हैं इसमें शंकित मत होना ।।29।।

18 लिपि, 72 कला, 64 विज्ञान, मन्वन्तर, 6 ऋतु, 12 मास और विशेष रूप से पृथ्वी के 36 भेद लिखे। अणगार के 27 गुण और सहस्रकूट चैत्यालय भी बनावे ।।30।।

जिनधर्म में विशेष प्रकार से वर्णित कर्मों की सत्ता, उदय, उदीरणा है मुग्ध! रात को ही लिखवा कर सौंपना, कहना कि घर जाते ही चूनड़ी उढाऊंगा। विनयचन्द मुनि के वचन सुनकर उत्तम श्रावक धर्म का पालन करो ।।31।।

जगविख्यात त्रिभुवनगिरिपुर ऐसा है मानो स्वर्ग का टुकड़ा ही धरती पर उतर आया हो। वहाँ अजयराजा के राजविहार में रहते हुए मुनिवर ने शीघ्र ही इस चूनड़ी की रचना कर दी जिससे मुनिवर की शोभा बढ़े ।।32।।

यह चूनड़ी आगम में कहे अनुसार मैंने मुनीन्द्र के प्रसाद से कही है। जो इसको पढ़ेगा, सुनेगा, श्रद्धान करेगा वह मनुष्य प्रयत्नपूर्वक शिवपुर मे जाकर निश्चय ही शिव-सुख का खजाना प्राप्त करेगा। वह लीला मात्र से ही भवसागर के पार उतर जायगा और फिर वह मोक्ष सुख को प्राप्त कर लेगा ।।33।।

स्वरलिपि

पिछले पृष्ठों में प्रकाशित चूनड़ी गेय है। हम इसे एक प्राचीन राजस्थानी लोक-धुन 'थणा नैं मंगाय दीज्यो पोमचियो प्यारा' की तर्ज पर स्वरलिपिबद्ध कर यहाँ प्रकाशित कर रहे हैं। यदि पाठकों को हमारा यह प्रयास रुचिकर लगा तो भविष्य में भी इस प्रकार की रचनाएं हम पाठकों के समक्ष रखने का प्रयत्न करेंगे।

प्रेस में संगीत टाइप के अभाव में भातखण्डे स्वरलिपि का प्रयोग नहीं किया जा सका है। इसमें आरोह में तीव्र तथा अवरोह में कोमल निषाद के अतिरिक्त अन्य सब स्वर शुद्ध हैं। स्थायी की दूसरी पंक्ति की निषाद मंद्र सप्तक की तीव्र है। ताल द्रुतलय में कहरवा है। तैयार हो जाने पर यह धुन बड़ी कर्णप्रिय लगेगी ऐसा हमारा विश्वास है।

स्थायी

+	०	+	०
रे रे म म,	प प नि नि,	ध ध म म,	ग ग रे सा
वि ण एं ऽ,	वं ऽ दि वि,	पं ऽ च गु,	रू ऽ जी ऽ
सा रे ग म,	ग रे सा सा,	रे रे नि नि,	सा सा सा सा
वि ण एं ऽ,	वं ऽ दि वि,	पं ऽ च गु,	रू ऽ ऽ ऽ

अन्तरा

नि नि नि नि,	नि नि नि नि,	सां सां सां सां,	नि ध प प
मो ऽ ह म,	हा ऽ त म,	तो ऽ ड न,	दि ण य रु
नि नि ध ध,	प प म ग,	रे रे ग म,	प प प प
वं ऽ दि वि,	वी ऽ र णा,	ऽ हु गु रु,	ग ण ह रु

नोट :— अन्तरे की शेष पंक्तियाँ इसी प्रकार बजाकर स्थायी पकड़ लें।

— पोल्याका

जैनविद्या संस्थान, श्रीमहावीरजी

— श्री ज्ञानचन्द खिन्दूका

□

दि० जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी, जिला सवाईमाधोपुर (राजस्थान) भारतवर्ष मे दिगम्बर जैन समाज का एक प्रमुख तीर्थक्षेत्र है जहाँ भगवान् महावीर की ताम्रवर्ण पाषाण की परम दिगम्बर पद्मासन प्रतिमा विराजमान है। भगवान् की इस चमत्कारी प्रतिमा के निर्निमेष दर्शन करने पर भी तृप्ति नहीं होती तथा अपूर्व सुख व शान्ति का अनुभव होता है। यही कारण है कि जैन व जैनेतर सभी वर्ग व सम्प्रदाय के भक्तगण बिना किसी भेदभाव के उक्त प्रतिमा के दर्शन करने हेतु खिंचे चले आते हैं।

इस पावन तीर्थ पर यात्रियों को आवास, बिजली, पानी आदि सभी प्रकार की आधुनिक सुविधाएं उपलब्ध हैं। यहाँ सदैव दर्शनार्थियों की भीड़ लगी रहती है। ग्रामों जैसी नीरवता व शान्ति तथा शहरों जैसी चहल-पहल दोनों विरोधी छोर इस क्षेत्र पर आकर मिलते हैं।

क्षेत्र की प्रबन्धकारिणी कमेटी ने अपना कार्यक्षेत्र केवल मंदिर की व्यवस्था तथा दर्शनार्थियों की सुख-सुविधा तक ही सीमित नहीं रखा है, अपितु पूरे ग्राम के लिए पानी, बिजली, सड़कों, शिक्षा, चिकित्सा आदि की सुविधायें उपलब्ध कराने के लिए वह पूर्णतया सचेष्ट है। कमेटी जहाँ होनहार किन्तु आर्थिक अभावग्रस्त छात्रों को शिक्षा हेतु छात्रवृत्ति देती है वहाँ वह अपांगों, विकलांगों, वृद्धों, विधवाओं, असहायों के लिए आर्थिक सहायता भी प्रदान करती है। इतना ही नहीं, वह क्षेत्र पर एक योग व प्राकृतिक चिकित्सालय की योजना भी क्रियान्वित करने जा रही है। क्षेत्र पर एलोपैथिक डिस्पेन्सरी एवं आयुर्वेदिक औषधालय की व्यवस्था तो वर्षों से है ही।

प्राचीन मंदिर और जैन पुरातत्व के स्थानों को सुरक्षित रखने तथा जैन वाङ्मय के प्रचार-प्रसार व अनुसंधान का कार्य भी प्रबन्धकारिणी कमेटी की गतिविधियों का एक प्रमुख अंग रहा है।

जैन तीर्थ पूजा-भक्ति के साथ-साथ जैन संस्कृति की रक्षा, प्रचार-प्रसार के महान् केन्द्र रहे हैं। अतीत में कई तीर्थों एवं मंदिरों में जीवन से सम्बन्धित सभी विषयों पर

प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, तमिल, तेलगू, कन्नड़, हिन्दी आदि भाषाओं में प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों व नवीन ग्रन्थों के बड़े-बड़े शास्त्रागारों की स्थापना हुई है। श्रीमहावीरजी क्षेत्र भी इसका अपवाद नहीं रहा है। यहाँ भी एक काफी अच्छा शास्त्रभण्डार है। जो थोड़ा बहुत प्राचीन एवं महा उपयोगी जैन साहित्य विश्व के चिन्तकों एवं मनीषियों के सम्मुख अब तक रखा जा सका है उसे देखकर आज एक स्वर से यह स्वीकारा जाने लगा है कि विश्व को त्राण दिलाने के उपायों में मुख्य उपाय है भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकान्त के सिद्धान्त। आज विश्व को महावीर के इन सिद्धान्तों की जितनी अधिक आवश्यकता है, उतनी सम्भवत: अतीत में कभी नहीं रही।

इसी दृष्टि से प्रबंधकारिणी कमेटी ने आज से लगभग 36 वर्ष पूर्व प्रसिद्ध दार्शनिक, विद्वान् एवं साहित्य सेवी स्व० पं० चैनसुखदास न्यायतीर्थ की प्रेरणा एवं क्षेत्र के तत्कालीन मंत्री स्व० श्री रामचन्द्र खिन्दूका के अथक प्रयत्नों से आमेर शास्त्रभण्डार को जयपुर स्थानान्तरित कर एक साहित्य शोध विभाग की स्थापना की थी। इस विभाग से राजस्थान के जैन शास्त्रभण्डारों में वर्षों से बंद ग्रन्थों की पाँच बृहदाकार सूचियों का प्रकाशन हुआ जिनसे हजारों प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, राजस्थानी एवं हिन्दी की ऐसी रचनाएं प्रकाश में आईं जो अब तक अज्ञात थीं। इनके अतिरिक्त इस अंक के अन्त में प्रकाशित ग्रंथसूची के ग्रंथों का प्रकाशन भी यहाँ से हुआ जो प्रबुद्ध जनता में पर्याप्त प्रशंसित एवं समादृत हुआ। डॉ० कस्तूरचद कासलीवाल एवं पं० अनूपचन्द न्यायतीर्थ का प्रकाशन कार्य में पर्याप्त योगदान रहा।

यह कार्य अधिक व्यापक रूप ग्रहण कर सके इस दृष्टि से साहित्य शोध विभाग का नाम "जैनविद्या संस्थान" रखकर इसका कार्यालय अभी डेढ़ वर्ष पूर्व दि० जैन अतिशय क्षेत्र, श्रीमहावीरजी स्थानान्तरित किया गया। इसके प्रमुख उद्देश्य हैं –

1. प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, तमिल, कन्नड़, राजस्थानी, हिन्दी आदि भाषाओं के अप्रकाशित साहित्य को आधुनिक शैली में सम्पादित कर प्रकाशित करना।
2. चारों अनुयोगों (प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग) के मूल ग्रन्थों को सानुवाद प्रकाशित करना।
3. जैन पुराण, दर्शन, न्याय आदि विषयों के संक्षिप्त जनोपयोगी संस्करण तैयार करना।
4. जैनदर्शन, आचार, इतिहास, कला, साहित्य आदि पर मौलिक रचनाएं तैयार करना।
5. देश के जैन भण्डारों की पाण्डुलिपियों को व्यवस्थित कर उनकी सूचियाँ बनाना, प्रकाशित करना, उनके संरक्षण एवं संग्रहण की व्यवस्था करना।
6. दुर्लभ पुस्तकों एवं महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की पाण्डुलिपियों की माइक्रोफिल्म बनवा कर संस्थान में उपलब्ध कराना।
7. देश-विदेश के विद्वानों द्वारा चाही गई पाण्डुलिपियों की फोटोस्टेट कापियाँ उनकी आवश्यकतानुसार उपलब्ध कराना।
8. प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश आदि भाषाओं के जैन ग्रन्थों के कोश तथा प्राकृत ग्रन्थों की गाथाओं की अनुक्रमणिका तैयार करवाना।

9. जैन विषयों पर शोध करने वाले छात्रों को सुविधायें प्रदान करना, कराना।
10. जैनकला संग्रहालय की स्थापना करना।
11. समय-समय पर जैनविद्या पर संगोष्ठियाँ, भाषण, समारोहों आदि का आयोजन करना।
12. विदेशों में जैनविद्या केन्द्रों की स्थापना करना व कराना।
13. विश्वविद्यालयों में जैनविद्या के अध्ययन-अध्यापन की व्यवस्था के लिए आवश्यक कदम उठाना।
14. प्राचीन कवियों के आध्यात्मिक तथा भक्तिपरक भजनों के रिकार्ड, टेप एवं जैनधर्म सम्बन्धी भाषणों के टेप तैयार करना।
15. जैन तीर्थों की फिल्मों का संग्रहण एवं प्रदर्शन करना।
16. आकाशवाणी तथा दूरदर्शन से जैन संस्कृति के प्रसार की व्यवस्था करना।

उपर्युक्त उद्देश्यों की पूर्ति हेतु संस्थान में निम्न सात विभागों की स्थापना की योजना बनाई गई है :–

1. **पुस्तकालय विभाग**

इस विभाग मे मुद्रित एवं हस्तलिखित ग्रन्थों का संग्रह होगा। जो महत्त्वपूर्ण हस्तलिखित ग्रन्थ सुलभ नहीं होंगे उनकी फोटोस्टेट प्रतियाँ करवा कर रखी जावेंगी। इस विभाग के अन्तर्गत माइक्रोफिल्मिंग केन्द्र भी प्रारम्भ किया जावेगा।

वर्तमान में इस विभाग के पुस्तकालय में अनुमानतः 12,000 मुद्रित पुस्तकें विभिन्न विषयों और भाषाओं की संगृहीत हैं जिसमें निरन्तर वृद्धि की जा रही है। प्रयास यह है कि शोधार्थी विद्वानों को प्रायः प्रत्येक विषय की महत्त्वपूर्ण आवश्यक सांदर्भिक सामग्री क्षेत्र पर ही सुलभ हो जिससे उनको अध्ययन एवं अनुसंधान के लिए सुविधाएं एक ही स्थान पर उपलब्ध हो सकें।

पाण्डुलिपि विभाग में हस्तलिखित ग्रन्थों की संख्या 3500 से भी अधिक है। वर्तमान में दो विद्वान् इनके विस्तृत सर्वेक्षण का कार्य कर रहे हैं।

देश में पचासों ऐसे जैन ग्रन्थ भण्डार हैं जहाँ हजारों की संख्या में हस्तलिखित ग्रन्थ अव्यवस्थित और असुरक्षित अवस्था में पड़े हैं। राजस्थान में ही ऐसे कई भण्डार हैं। यदि इन सबको एक ही स्थान पर एकत्र कर व्यवस्थित और सुरक्षित किया जा सके एवं आधुनिक शैली में इनका सूचीकरण हो सके तो सैकड़ों ऐसी रचनाएँ उपलब्ध हो सकती हैं जो अब तक अज्ञात हैं। यह जिनवाणी की एक महत्त्वपूर्ण सेवा होगी। संस्थान इस ओर प्रयत्नशील है। वह ऐसे भण्डारों के व्यवस्थापकों से प्रार्थना एवं अनुरोध करता है कि वे इस कार्य के महत्त्व को समझ कर ऐसे ग्रन्थ संस्थान को प्रदान करें। व्यवस्थापक यदि चाहेंगे तो प्रदाताओं के नाम से अलग आलमारियों की व्यवस्था भी की जा सकेगी और संस्थान को इस प्रकार प्रदत्त ग्रन्थों का स्वत्वाधिकार भी उनका रखा जा सकेगा। यदि किन्हीं कारणवश मूल प्रतियाँ देना स्वीकार नहीं हो तो उनकी फोटोस्टेट प्रतियाँ एवं

माइक्रोफिल्म संस्थान को दिलाने में सहयोग करें। इस प्रकार से ग्रन्थों का समुचित उपयोग, संरक्षण एवं व्यवस्थापन तो होगा ही, प्रदाताओं को भी यश तथा धर्मलाभ की प्राप्ति होगी।

जैनविद्या संस्थान ने भारत सरकार के सहयोग से संस्थान एवं राजस्थान संस्कृत साहित्य अकादमी के संयुक्त तत्वावधान में 26 जून से 10 जुलाई, 1983 तक एक पाण्डुलिपि एवं मुद्रणकला प्रशिक्षण शिविर का श्रीमहावीरजी में आयोजन किया। इसका उद्घाटन न्यायमूर्ति श्री गुमानमल लोढा द्वारा सम्पन्न हुआ। शिविर दो सत्रों में चला। इसमें ३५ प्रशिक्षणार्थियों ने प्रशिक्षण प्राप्त किया। देश के जाने-माने अपने-अपने विषय के निष्णात 23 विद्वानों ने सम्बन्धित 44 विषयों पर प्रशिक्षणार्थियों को सम्बोधित किया। सभी के निवास, भोजन आदि की व्यवस्था संस्थान की ओर से की गई। इस आयोजन में पाण्डुलिपि तथा मुद्रणकला सम्बन्धी कई नये आयाम प्रकाश में आए। संस्थान इस शिविर के लिए भारत सरकार एवं राजस्थान संस्कृत साहित्य अकादमी के प्रति आभारी है।

2. **शोध विभाग**

इस विभाग में वर्तमान में दो विद्वान् जैन पुराण कोश का निर्माण कार्य कर रहे हैं। बहुत कुछ कार्य हो चुका है और शेष कार्य शीघ्र ही सम्पन्न हो जाने की आशा है। इस कार्य के लिए महापुराण, हरिवंशपुराण, पाण्डवपुराण, पद्मपुराण एवं वर्द्धमानपुराण इन पाँच पुराणों को लिया गया है। 'षट्खण्डागम कोश' की तैयारी का कार्य भी प्रगति पर है। एक विद्वान् द्वारा स्वयंभू पर शोधकार्य चालू है। संस्थान द्वारा एक पत्रिका "जैनविद्या" का प्रकाशन भी आरम्भ किया गया है जिसका प्रथम अंक "स्वयंभू विशेषांक" के रूप में पाठकों के हाथों में है। इसके द्वारा जैनविद्या से सम्बन्धित शोध/अनुसंधान पूर्ण सामग्री तो पाठकों को प्राप्त होगी ही, साथ ही वे संस्थान की नवीनतम गतिविधियों से भी परिचित हो सकेंगे।

3. **जनोपयोगी साहित्य-निर्माण विभाग**

इस विभाग के द्वारा बालकों और वयस्कों में धर्म और दर्शन के प्रति रुचि जागृत करने हेतु रोचक साहित्य का निर्माण एवं प्रकाशन होगा। इस समय इस विभाग में बोध कथाओं, लघु बोध कथाओं, बोध कणों, अवान्तर कथाओं एवं पुराण सूक्तियों पर कार्य हो रहा है।

4. **कला विभाग**

इसमें स्थापत्य, मूर्ति एवं चित्रकला के ऐसे नमूनों का संग्रह होगा जिससे जैन संस्कृति के कलात्मक पक्ष की महत्त्वपूर्ण जानकारी प्राप्त की जा सकेगी।

5. **अनुवाद विभाग**

यह विभाग महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का हिन्दी, अंग्रेजी तथा अन्य समसामयिक भाषाओं में अनुवाद करावेगा। "जैनधर्म और दर्शन" के विषय में लोग अपनी भाषा में ज्ञान प्राप्त कर सकें यह इन अनुवादों का प्रयोजन होगा।

6. प्रसारण एवं जनसम्पर्क विभाग

यह विभाग दि० जैन संस्कृति से सम्बन्धित प्रसारणों की व्यवस्था आधुनिक पद्धति से करेगा ।

7. मुद्रणालय विभाग

आधुनिक साधनों और तकनीकों से सुसम्पन्न संस्थान का अपना एक मुद्रणालय होगा ।

महावीर पुरस्कार योजना

संस्थान ने क्षेत्र की प्रबन्धकारिणी कमेटी के निर्णयानुसार जैन साहित्य सृजन व लेखन को प्रोत्साहन देने हेतु आरम्भ में प्रति वर्ष 5,000/- पाँच हजार रुपयों का "महावीर पुरस्कार" ऐसे व्यक्ति को भेंट किये जाने की योजना चालू की है जिसने जैन साहित्यिक क्षेत्र में उल्लेखनीय कार्य किया हो। सन् 1983 के "महावीर पुरस्कार" के लिए कृतियाँ आमन्त्रित कर ली गई हैं। इस महावीर पुरस्कार की योजना से प्रेरित होकर ही सेठ श्री अमरचन्द पहाड़िया कलकत्ता वालों ने 1501/- का एक पुरस्कार "अमर साहित्य पुरस्कार" के नाम से संस्थान के माध्यम से देना स्वीकार किया है ।

सारी योजना का कार्यान्वयन क्षेत्र की प्रबन्धकारिणी द्वारा गठित जैनविद्या संस्थान समिति द्वारा होता है जिसके वर्तमान सदस्यों के नाम निम्न प्रकार हैं –

1. श्री मोहनलाल काला	अध्यक्ष
2. डॉ० गोपीचन्द पाटनी	संयोजक
3. डॉ० राजमल कासलीवाल	सदस्य
4. श्री ज्ञानचन्द खिन्दूका	सदस्य
5. श्री विजयचन्द जैन	सदस्य
6. श्री फूलचन्द जैन	सदस्य
7. डॉ० कमलचन्द सोगाणी	सदस्य
8. श्री कपूरचन्द पाटनी	सदस्य
9. प्रो० प्रवीणचन्द्र जैन, मानद निदेशक	पदेन सदस्य

जैनविद्या संस्थान की यह सम्पूर्ण योजना प्रो० प्रवीणचन्द्र जैन के मानद निदेशन में क्रियान्वित हो रही है। इसी प्रकार 'तीर्थंकर' पत्र के सम्पादक श्री नेमीचन्द जैन का भी पर्याप्त मार्गदर्शन एवं परामर्श मिला है। इसके लिए ये दोनों ही धन्यवाद के पात्र हैं।

इस योजना का समाज के सब ही क्षेत्रों में उत्साहवर्धक स्वागत एवं सराहना हुई है। संस्थान अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप ग्रहण कर सके इसके लिए सबका सहयोग आवश्यक है। पूर्ण आशा और विश्वास है कि संस्थान के माध्यम से विश्व के नैतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक उत्थान में अपेक्षित योगदान उपलब्ध होगा ।

इस अंक के सहयोगी रचनाकार

1. **पं० अनूपचन्द जैन** : जन्म 10 सित०, 1922। न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न। रचनाएं – आ० सूर्यसागर, रोहिणी आदि व्रतों की पूजाएँ, पद्मप्रभ चालीसा, बाहुबलि आदि। सम्पादन – राजस्थान के दि० जैन शास्त्र भण्डारों की सूची भाग 3-4-5। कई सामाजिक संस्थाओं के पदाधिकारी। इस अङ्क में – अपभ्रंश के प्रथम महाकवि विज्ञ स्वयंभू तुम्हें प्रणाम (कविता)। सम्पर्क सूत्र – 769, गोदीकों का रास्ता, जयपुर 302003।

2. **डॉ० कमलचन्द सोगाणी** : जन्म 25 अग०, 1928। एम०ए०, बी०एससी०, पीएच० डी०। प्रो० दर्शन शास्त्र, सुखाड़िया वि०वि०, उदयपुर। रचनाएं – 1. Ethical Doctrines in Jainism, 2. आचारांग चयनिका, 3. वाक्पतिराज की लोकानुभूति। देश-विदेश के कई सम्मेलनों में पत्रवाचन। लन्दन में 30 सित० से 2 अक्टूबर, 1983 तक आयोजित अन्तर्राष्ट्रीय जैन सम्मेलन में जैनविद्या संस्थान, श्रीमहावीरजी के प्रतिनिधि। कई सामाजिक संस्थाओं से संबद्ध। 'जैनविद्या' के सम्पादक मण्डल के सदस्य। इस अङ्क में – स्वयंभू समारोह/संगोष्ठी क्यों और कैसे ? सम्पर्क सूत्र – TH4, स्टाफ कॉलोनी, यूनिवर्सिटी न्यू कैम्पस, उदयपुर।

3. **डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल** : जन्म 8 अग० 1920। एम०ए०, पीएच०डी०, शास्त्री। रचनाएं – साहित्य शोध विभाग, श्रीमहावीरजी, महावीर ग्रंथ अकादमी, जयपुर एवं अन्य संस्थाओं द्वारा प्रकाशित अनेक ग्रंथों के तथा महिला जागृति परिषद् द्वारा मञ्चित नाटकों के लेखक, सम्पादक। निदेशक – महावीर ग्रंथ अकादमी, जयपुर। इस अङ्क में – अपभ्रंश साहित्य में महाकवि स्वयंभू। सम्पर्क सूत्र – 867, अमृत कलश, बरकत कॉलोनी, किसान मार्ग, टोंक रोड, जयपुर-302015।

4. **डॉ० कस्तूरचन्द 'सुमन'** : जन्म 12 अप्रैल, 1936। एम०ए० (संस्कृत, प्राचीन इतिहास एवं स्थापत्य, पालि प्राकृत), शास्त्री, काव्यतीर्थ, साहित्यरत्न, बी०एड०, पीएच०डी०। शोध सहायक – जैनविद्या संस्थान, श्रीमहावीरजी। इस अंक में – स्वयंभूच्छन्द : एक समीक्षात्मक अध्ययन। सम्पर्क सूत्र – जैनविद्या संस्थान, श्रीमहावीरजी (जिला सवाईमाधोपुर) राज० : 322220।

5. **डॉ० गजानन नरसिंह साठे** : जन्म 1 फर०, 1922। एम०ए० (मराठी, हिन्दी, अंग्रेजी), पीएच०डी०, बी०टी०, साहित्यरत्न। भू० पू० प्रधानाचार्य एवं प्राचार्य जूनियर कॉलिज विभाग, पोद्दार कालेज ऑफ कामर्स एण्ड इकानामिक्स, माटुंगा (बम्बई)। कई हिन्दी, मराठी एवं गुजराती पुस्तकों के अनुवादक तथा लेखक। इस अङ्क में – महाकवि स्वयंभूदेव का व्यक्तित्व। सम्पर्क सूत्र – 1472, सदाशिव पेठ, परांजपे सदन, पुणे (महाराष्ट्र) 411030।

6. **डॉ० देवेन्द्रकुमार जैन** : एम०ए०, साहित्याचार्य, पीएच० डी०। सेवा-निवृत्त प्राचार्य शासकीय कला एवं वाणिज्य स्नातकोत्तर महाविद्यालय, इन्दौर। अपभ्रंश भाषा

और साहित्य, अपभ्रंश प्रकाश आदि कई पुस्तकों के लेखक, सम्पादक तथा अनुवादक। इस अङ्क में – महाकवि स्वयंभू की भाषा में देशी तत्त्व।

अत्यन्त खेद का विषय है कि डॉक्टर साहब का गत मास इन्दौर में स्वर्गवास हो गया। इसप्रकार समाज के अपभ्रंश भाषा के गिने-चुने विद्वानों में से एक की कमी और हो गई। इस क्षति की निकट भविष्य में पूर्ति होना कठिन लगता है। जैनविद्या संस्थान एवं पत्रिका परिवार मृतक के परिवारवालों के साथ हार्दिक संवेदना प्रकट करता है एवं दिवंगत आत्मा के लिए शांतिलाभ की कामना करता है।

7. **श्री नेमीचन्द पटोरिया** : एम०ए०, एलएल०बी०, साहित्यरत्न। भू० पू० वकील, सम्पादक जैन गजट, मंगलज्योति, महिला जागरण। सोना और धूल, सत्य और परख आदि पुस्तकों एवं बोध कथाओं के रचनाकार, टीकाकार। मानद शोध सहायक – जैनविद्या संस्थान, श्रीमहावीरजी। इस अंक में – 1. पउमचरिउ के व्याकरण उपमान एवं 2. कविराज स्वयंभू (कविता)। सम्पर्क सूत्र – जैनविद्या संस्थान, श्रीमहावीरजी (जिला सवाईमाधोपुर) राज० : 322220।

8. **डॉ० प्रेमचन्द रांवका** : जन्म 20 अक्टूबर, 1943। एम०ए०, जैनदर्शनाचार्य, शिक्षाशास्त्री, पीएच०डी०। प्राध्यापक – राजकीय संस्कृत महाविद्यालय, मनोहरपुर। रचनाएं – महाकवि ब्रह्म जिनदास का व्यक्तित्व एवं कृतित्व आदि। इस अंक में – स्वयंभू की काव्यकला। स्थायी सम्पर्क सूत्र – 1910, खेजड़े का रास्ता, तोपखाना देस, जयपुर-302001।

9. **श्री भंवरलाल पोल्याका** : जन्म 1 फरवरी, 1918। जैनदर्शनाचार्य, साहित्य-शास्त्री। कई ग्रंथों, स्मारिकाओं, पत्रों के सम्पादक। पाण्डुलिपि सर्वेक्षक – जैनविद्या संस्थान श्रीमहावीरजी। इस अंक में – 1. पउमचरिउ की सूक्तियां, 2. अपभ्रंश की 800 वर्ष प्राचीन अप्रकाशित रचना 'चूनड़ी'। स्थायी सम्पर्क सूत्र – 566, जोशी भवन के सामने, मणिहारों का रास्ता, जयपुर-302003।

10. **डॉ० योगेन्द्रनाथ शर्मा 'अरुण'** : एम०ए०, पीएच०डी०, साहित्यरत्न। रीडर एवं अध्यक्ष – हिन्दी विभाग, बी०एस०एम० स्नातकोत्तर कालेज (मेरठ वि०वि०), रुड़की। शोध निर्देशक। रचनाएं – स्वयंभू एवं तुलसी के नारी पात्र, प्राकृत अपभ्रंश इतिहास दर्शन आदि। इस अंक में – स्वयंभू में प्रयुक्त अलङ्कार। सम्पर्क सूत्र – रीडर एवं अध्यक्ष – हिन्दी विभाग, बी०एस०एम० स्नातकोत्तर कॉलेज, रुड़की पिन : 247667।

11. **डॉ० राजाराम जैन** : एम०ए०, पीएच०डी०, शास्त्राचार्य, जैन-सिद्धान्त रत्न। रीडर एवं विभागाध्यक्ष संस्कृत प्राकृत – एच०डी० जैन कॉलेज, आरा। मानद निदेशक – डी०के०जे० ओरियण्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट, आरा। कई पत्रों, ग्रंथों के सम्पादक, कई संस्थाओं के पदाधिकारी, रइधू साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन, रइधू ग्रंथावली आदि कई रचनाओं एवं शोध प्रबंधों के रचनाकार। इस अंक में – स्वयंभू साहित्य की प्रशस्तियों में उल्लिखित कुछ प्रमुख साहित्यकार। सम्पर्क सूत्र – महाजन टोली नं० 2, आरा (बिहार)।

12. **डॉ० विद्याधर जोहरापुरकर** : प्राध्यापक – संस्कृत महाकोशल महाविद्यालय, जबलपुर। भट्टारक संप्रदाय, प्रमा प्रमेय आदि कई हिन्दी एवं मराठी पुस्तकों के रचनाकार। इस अंक में – स्वयंभू का प्रदेश। सम्पर्क सूत्र – 14, ए०पी० कॉलोनी, पचपेढ़ी, जबलपुर (म०प्र०) 482001।

13. **डॉ० (श्रीमती) विद्यावती जैन** : एम०ए०, पीएच०डी०, साहित्यरत्न। प्राध्यापिका – हिन्दी विभाग, महिला विद्यालय, आरा। पज्जुण्ण – चरिउ आदि अपभ्रंश के कई ग्रंथों का सम्पादन समीक्षण। इस अंक में – स्वयंभूकृत पउमचरिउ के कुछ प्रमुख नारीपात्र। सम्पर्क सूत्र – महाजन टोली नं० 2, आरा (बिहार) 802301।

14. **डॉ० विमलप्रकाश जैन** : जन्म 15 मई, 1933। एम०ए० (पालि, प्राकृत, जैनोलॉजी एवं संस्कृत), पीएच०डी०। प्रोफेसर – पालि प्राकृत, जबलपुर वि०वि०। अध्यक्ष – संस्कृत, पालि, प्राकृत अध्ययन मण्डल, जबलपुर एवं अन्य कई संस्थाओं के सदस्य तथा पदाधिकारी। रचनाएं – जंबूसामि चरिउ आदि। इस अंक में – स्वयंभूदेव कृत पउमचरिउ में सीता का चरित्र। सम्पर्क सूत्र – B32, वि०वि० अध्यापक निवास, सरस्वती विहार, जबलपुर (म०प्र०)।

15. **पं० विष्णुकांत शुक्ल** : जन्म 29 अक्टूबर, 1942। एम० ए० (हिन्दी, संस्कृत), साहित्याचार्य, साहित्यरत्न। अध्यक्ष – हिन्दी विभाग, जे०बी० जैन कॉलेज, सहारनपुर। स्फाटिकी माला, पूर्ण कुम्भ: आदि कई संस्कृत, हिन्दी ग्रंथों के रचनाकार। इस अंक में – स्वयंभूकालीन साहित्यिक परिस्थितियाँ। सम्पर्क सूत्र – अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, जे०बी० जैन कॉलेज, सहारनपुर (उ०प्र०)।

16. **श्री श्रीयांसकुमार सिंघई** : जन्म 21 अगस्त, 1958। आचार्य (जैन दर्शन), शोध स्नातक। प्राध्यापक – भाषा विज्ञान, दि० जैन स्नातकोत्तर संस्कृत महाविद्यालय, जयपुर। राज० वि०वि० की विद्यावारिधि उपाधि हेतु 'जैनकर्मसिद्धान्ते बंधमुक्तिप्रक्रिया' पर शोधप्रबंध लेखन में कार्यरत। इस अंक में – पउमचरिउ में भरत बाहुबलि प्रसंग। सम्पर्क सूत्र – दि० जैन स्नातकोत्तर संस्कृत महाविद्यालय, मनिहारों का रास्ता, जयपुर-302003।

17. **श्री श्रीरंजन सूरिदेव** : जन्म 3 फरवरी, 1927। एम०ए० (प्राकृत, संस्कृत एवं हिन्दी), पाल्याचार्य, साहित्याचार्य, आयुर्वेदाचार्य, पुराणाचार्य, जैनदर्शनाचार्य, साहित्यरत्न, साहित्यालंकार, पीएच०डी०, मेघदूत : एक अनुचिन्तन, बहुत है आदि रचनाओं के लेखक, अनुवादक। सम्पादक – बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् पत्रिका आदि। उपनिदेशक – 'शोध' (बिहार राष्ट्र भाषा परिषद् पत्रिका)। इस अंक में – अपभ्रंश रामायण पउमचरिउ के हनुमान। सम्पर्क सूत्र – सम्पादक 'परिषद् पत्रिका' बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् आ० शिवपूजन सहाय मार्ग, पटना-800004।

जैनविद्या संस्थान श्रीमहावीरजी

महावीर पुरस्कार

दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र, श्रीमहावीरजी (राजस्थान) की प्र० कारिणी समिति के निर्णयानुसार जैन साहित्य सृजन एवं लेखन को प्रोत्साहन करने के लिए रु० 5,000/– पाँच हजार का महावीर पुरस्कार प्रतिवर्ष देने की योजना –

योजना के नियम :–

1. जैन धर्म, दर्शन, इतिहास, संस्कृति सम्बन्धी किसी विषय पर किसी निश्चित अवधि मे लिखी गयी सृजनात्मक कृति पर "महावीर पुरस्कार" दिया जावेगा। अन्य संस्थाओं द्वारा पहिले से पुरस्कृत कृति पर यह पुरस्कार नही दिया जावेगा।
2. पुरस्कार के लिए विषय, भाषा, आकार एवं अवधि का निर्णय जैनविद्या संस्थान समिति द्वारा किया जावेगा।
3. पुरस्कार हेतु प्रकाशित/अप्रकाशित दोनो प्रकार की कृतियाँ प्रस्तुत की जा सकती है। यदि कृति प्रकाशित हो तो वह पुरस्कार की घोषणा की तिथि के 3 वर्ष पूर्व तक ही प्रकाशित होनी चाहिये।
4. पुरस्कार हेतु मूल्यांकन के लिए कृति की चार प्रतियाँ लेखक/प्रकाशक को संयोजक जैनविद्या संस्थान समिति को प्रेषित करनी होगी। पुरस्कारार्थ प्राप्त प्रतियों पर स्वामित्व संस्थान का होगा।
5. अप्रकाशित कृति की प्रतियाँ स्पष्ट टंकरण की हुई अथवा यदि हस्तलिखित हो तो वे स्पष्ट और सुवाच्य होनी चाहिये।
6. पुरस्कार के लिए प्रेषित कृतियो का मूल्यांकन दो या तीन विशिष्ट विद्वानो/निर्णायकों के द्वारा कराया जावेगा, जिनका मनोनयन जैन विद्या संस्थान समिति द्वारा होगा। आवश्यक होने पर समिति अन्य विद्वानों की सम्मति भी ले सकती है। इन निर्णायकों/विद्वानों की सम्मति के आधार पर सर्वश्रेष्ठ कृति का चयन समिति द्वारा किया जावेगा। इस कृति को पुरस्कार के योग्य घोषित किया जावेगा।
7. सर्वश्रेष्ठ कृति पर लेखक को पांच हजार रुपये का महावीर पुरस्कार प्रशस्ति-पत्र के साथ प्रदान किया जावेगा। चयनित कृति के एक से अधिक लेखक होने पर पुरस्कार की राशि उनमे समान रूप से वितरित कर दी जावेगी।
8. महावीर पुरस्कार के लिए चयनित अप्रकाशित कृति का प्रकाशन संस्थान के द्वारा कराया जा सकता है जिसके लिए आवश्यक शर्तें लेखक से तय की जावेंगी।
9. महावीर पुरस्कार के लिए घोषित अप्रकाशित कृति को लेखक द्वारा प्रकाशित करने/करवाने पर पुस्तक में पुरस्कार का आवश्यक उल्लेख साभार होना चाहिये।
10. यदि किसी वर्ष कोई भी कृति समिति द्वारा पुरस्कार योग्य नहीं पाई गई तो उस वर्ष का पुरस्कार निरस्त (रद्द) कर दिया जावेगा।
11. उपरोक्त नियमो मे आवश्यक परिवर्तन/परिवर्द्धन/संशोधन करने का पूर्ण अधिकार संस्थान/प्रबन्धकारिणी समिति को होगा।

डॉ० गोपीचन्द पाटनी
संयोजक
जैनविद्या संस्थान समिति, श्रीमहावीरजी